एकेडेमॉस 2016

विद्या एवम् कौशल से परिपूर्ण
विभिन्न विषयों से सम्बद्ध एक वार्षिक संग्रह

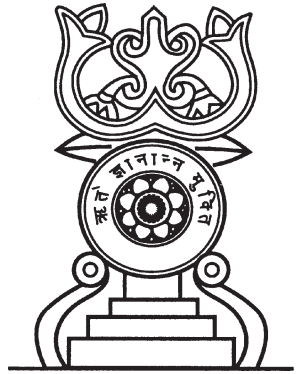

कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय 5

1. रचना: परिवर्द्धन एवं पुनर्सृजन 7
डॉ. विभा गुप्ता

2. तप्त समाधि तथा अन्य कहानियाँ: कथ्य और परिवेश 41
श्रीमती सरोज सक्सेना

3. मानव अधिकार और उपभोक्ता 46
डॉ. शीतल कपूर

4. हिन्दी दलित साहित्य में राष्ट्रीय एकता के स्वर 53
डॉ. रजत रानी आर्य

5. भारतीय संस्कृति एवं कर्म सिद्धांत 62
डॉ. सुषमा चौधरी

6. 'आधा गाँव' के बहाने : क्या ढूँढने निकले हैं हम राही की गंगौली में
श्री नरेश कुमार 68

7. भाषा की 'अनस्थिरता' पर उठा ऐतिहासिक विवाद 79
डॉ. साधना अग्रवाल

8. 'निरुक्त' के परिप्रेक्ष्य में भाषा परिवर्तन 85
डॉ. मैत्रेयी कुमार

9. टी.आर.पी. और मीडिया 97
डॉ. सुषमा सहरावत

10. प्राचीन भारत में विधवा जीवन: एक अभिशाप 101
डॉ. कमलेश रानी

11. रीतिकाल: ब्रजभाषा की उपजाऊ भूमि 109
डॉ. संगीता वर्मा

12. अपराध जीवी जनजातीय अधिनियम और हिन्दी उपन्यास 117
डॉ. भारती

13. हिन्दी तथा उर्दू काल में विरह वर्णन 125
डॉ. मोहम्मद इसराइल

14. उर्वशी में नारी का स्वरूप 134
डॉ. कुमारी अनीता

15. भारतेन्दु कृत 'भारत दुर्दशा' का संगीत पक्ष 144
डॉ. गुंजन कुमार झा

16. परम्परा का मूल्यांकन और विभिन्न मत 162
डॉ. सुधा निकेतन रंजनी

सम्पादकीय

"साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो, उसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाईयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।.....साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"

-मुंशी प्रेमचंद

(साहित्य का उद्देश्य)

एकेडेमॉस (हिन्दी) 2016 का दसवां अंक आप सभी विद्वज्जनों के सहयोग से प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। इस अंक में सम्मिलित समस्त लेख अधिकाधिक विषय-वैविध्य लिए हुए हैं। जर्नल को सफलतापूर्वक प्रकाशित कराने हेतु आप सभी लेखक-लेखिकाओं का हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ तथा आशा करती हूँ कि आगे भी आप सभी के सहयोग से एकेडेमॉस की यात्रा निरन्तर चलती रहेगी। अंततः प्रस्तुत अंक समस्त पाठक वृंद को सहर्ष समर्पित करती हूँ।

डॉ. सुषमा सहरावत

रचना : परिवर्द्धन एवं पुनर्सृजन

अनुवाद के अध्ययन–अध्यापन क्रम में निरन्तर इस प्रश्न की अनुगूंज का सामना करना पड़ा कि मूल पाठ–1 और अनूदित पाठ–2 निश्चित रूप से एक रचना के दो पाठ सामने आते हैं। परन्तु पुनर्सृजन की प्रक्रिया से गुज़रने क बाद एक नया रूप लेने पर पाठ–2 को एक नई रचना मानना अधिक युक्तिसंगत होगा अथवा नहीं? यह प्रश्न विचारनीय है। इसके अतिरिक्त 'प्रेमचंद और शतरंज के खिलाड़ी' तथा 'प्रसाद की रचनाओं में संस्करणगत परिवर्तनों का अध्ययन' जैसी कृतियों से भी यही प्रश्न पुनः सामने आता है कि अगर एक पाठ के एकाधिक संस्करणों में मिलने वाले परिवर्तन–परिवर्धन–संशोधन मूल रचना के पुनरावलोकन और सृजन प्रक्रिया की पुनरावृत्ति का प्रमाण देते हैं तो क्या उसे स्वतंत्र रचना मानना अधिक न्यायसंगत नहीं होगा? विद्वान अध्येता परवर्ती संस्करणों में समागत मूलभूत परिवर्तनों का स्पष्ट उल्लेख तो करते हैं परन्तु अपनी निश्चित–निर्भ्रान्त सम्मति वे प्रकट नहीं करते। यह प्रश्न भी यहां विचारणीय है कि पाठ में कथ्य–अभिव्यक्ति में से किसे प्रधानाता दी जाए? पुनर्प्रस्तुत पाठ को मूल रचना का नवीन संस्करण मात्र कहा जाए अथवा पुनर्प्रस्तुत रचना के स्वरूप में आए परिवर्तनों की दृष्टि से उसे एक नई रचना माना जाए? पाठ भेदों की चर्चा विद्वान अध्येता करते रहे हैं। पाठान्तर–जन्य समस्याओं का उल्लेख भी मिलता है, पर ऐसी रचना को क्या कहें, इस विषय में वे मौन हैं। अनुवाद सिद्धान्त निश्चित रूप से शैली की अपेक्षा मूल के कथ्य के संरक्षण पर बल देता है। समस्या तब आती है जब एकाधिक अनूदित पाठ मिलने पर उनके शैलीगत अंतर हमें यह सोचने पर विवश करते हैं कि शैली का पक्ष गौण कदापि नहीं हो सकता। इसका प्रमाण प्रेमचंद की कहानियों के चार–पांच अंग्रेजी अनुवादों के तुलनात्मक अध्ययन से मिलता है। साहित्यिक अनुवाद की सृजनधर्मिता का पक्ष एक ओर कविता के अनुवाद को असंभद मानता है तो दूसरी ओर अनूदित पाठ को अनुवादक की रचना के रूप में भी प्रस्तुत करता है। 'काव्यानुवाद की समस्याएं' लेख में डॉ. बीना श्रीवास्तव ने (1) अज्ञेय की मूल कविता 'जैसे तुम्हें स्वीकार हो' के उसी भाषा में प्रस्तुत अन्वयान्तर 'जयतु हे कंटक चिरन्तन' (2) को अनूदित माना है। अन्यत्र भी आप अनूदित रचना में अर्थ, भाव और संवेदना के सूक्ष्म अंतर आ जाने की बात मानती हैं। (अनुवादः सिद्धांत और समस्याएं, पृष्ठ 63 एवं 57)। 'गद्यानुवाद की समस्याएं' लेख (विभा गुप्ता) भी इसी सत्य को रेखांकित करता है (वही, पृष्ठ

98)। स्पष्ट है कि अनुवाद–कार्य में शैली पक्ष पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है जो ज़रूरी है क्योंकि रचयिता और अनुवादक का व्यक्तित्व भिन्न–भिन्न होता है। इससे सम्बद्ध प्रश्न यह भी है कि परिवर्द्धित अथवा पुनर्सृजित पाठ के स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रेमचंद की 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी के विभिन्न पाठ–भेदों से उत्पन्न आद्यावधि उपेक्षित, गहन पाठान्तर की समस्या पर विचार करते हुए डॉ. कमल किशोर गोयंका ने इसी प्रश्न के एक–दूसरे आयाम की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। यानी 'संपादक द्वारा किसी लेखक की कृति में किए गये संशोधन।' आपका स्पष्ट अभिमत है: "'माधुरी' पत्रिका के संपादक दुलारे लाल भार्गव ने पाण्डुलिपि के पाठ में अनेक प्रकार के संशोधन एवं परिवर्द्धन किए। उन्होंने कहानी के मूल पाठ (पाण्डुलिपि के पाठ) में से अनेक अंशों को छोड़ दिया, उनका रूप–परिवर्तन कर दिया अथवा अपनी ओर से अनेक शब्दों और वाक्यों को जोड़ दिया।" (पृष्ठ 651)। गोयंका ने इन संशोधनों एवं परिवर्द्धनों के प्रति प्रेमचंद की स्वीकृति–अस्वीकृति की जानकारी न होने का सवाल भी उठाया है, साथ ही इन्हें पाठ का अंश मानने पर भी वे प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। विशेषतः इसलिए कि ये परिवर्तन प्रेमचंद की भाषिक प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है (पृष्ठ 98)। 'शतरंज की बाज़ी' के उर्दू पाठ का प्रेमचंद की मूल पाण्डुलिपि के अनुकूल होना तथा उसके नए पक्षों एवं अंशों को जोड़ लेना प्रेमचंद की सृजन प्रक्रिया का वह पक्ष है जो उसे पुनः सृजन की भावभूमि तक ले जाता है (पृष्ठ 110)। इतना होने पर पर भी विद्वान अध्येता ने रचना के रूप में उर्दू पाठ अथवा संशोधित हिंदी पाठ के स्वतंत्र अस्तित्व के प्रश्न पर कोई सम्मति नहीं दी है। उनकी दृष्टि में मात्र यही तथ्य महत्वपूर्ण रहा है कि रचना को बेहतर बनाने पर भी अन्य व्यक्ति द्वारा किए गए संशोधनों का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता है क्योंकि रचना का रूपाकार ही नहीं उसकी मूल संवेदना, लेखक की शैली का मूल रंग–स्वर सभी इससे बदलते हैं फलतः पाठक तक पहुँचते–पहुँचते रचना लेखक और संपादक के मिश्रित प्रयास का परिणाम बन जाती है (पृष्ठ 43–44)।

'प्रसाद की रचनाओं में संस्करणगत परिवर्तनों का अध्ययन' एक सर्वथा भिन्न निष्कर्ष सामने लाता है। यहाँ लेखक यह मानते हैं कि प्रसाद द्वारा रचित एकांकी 'कल्याणी परिचय' का 'पूरी तरह से परिवर्द्धित और परिष्कृत रूप' उनका 'काफी बड़ा नाटक चंद्रगुप्त' है, और इसी नाटक का रंगमंच और

अभिनय की दृष्टि से किया गया संक्षिप्त, परिवर्तित रूपांतरण उनकी कृति 'अभिनय चंद्रगुप्त' है। यहीं अध्येता ने प्रसाद के लम्बे निबंध 'चंद्रगुप्त मौर्य' की चर्चा की है जो बाद में कतिपय परिवर्तनों के साथ नाटक की भूमिका के रूप में दिया गया है। इन सभी समस्याओं को शोधकर्ता एक ही कृति के भिन्न–भिन्न संस्करण मात्र मानते हैं (अध्याय 9, पृष्ठ 189–200)। शोधकर्ता ने इन सभी रचनाओं के एक–दूसरे से स्वतंत्र अस्तित्व के संबंध में विचार ही नहीं किया है। तभी वे पहले ब्रजभाषा में लिखे और बाद में खड़ी बोली में रूपान्तरित 'प्रेम–पथिक' को एक ही कृति के दो संस्करणों के रूप में देखते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि 'कल्याणी–परिणय' एकांकी की और 'चंद्रगुप्त मौर्य' निबंध को 'चंद्रगुप्त' का संस्करणगत रूप किस आधार पर माना जाए? ('अभिनय चंद्रगुप्त' रचना सुलभ न होने से उसके स्वतंत्र अस्तित्व का प्रश्न यहाँ नहीं उठाया गया है।) यहाँ इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना भी संगत होगा कि अध्येता ने पाठ–परिवर्तन के दो संभाव्य कारणों यानी (i) अनुभूति और अभिव्यक्ति का वैषम्य तथा (ii) रचयिता की आलोचक दृष्टि का विवेचन किया है परन्तु पाठ–परिवर्तन की प्रयोजनीयता के प्रश्न पर समुचित ध्यान नहीं दिया है। वास्तव में प्रश्न यह है कि प्रसंग–विशेष अथवा घटना–विशेष भी अभिव्यक्ति करने वाले 'चंद्रगुप्त' नाटक और 'कल्याणी–परिणय' एकांकी को अथवा दो भिन्न भाषा रूपों को प्रस्तुत करने वाले 'प्रेम–पथिक' को एक ही रचना के विभिन्न संस्करण मानना कहाँ तक न्याय संगत है? दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि शरतचंद्र के 'देवदास' उपन्यास पर निर्मित फिल्मों को क्या भिन्न–भिन्न व्यक्तियों की रचनाएं मानना असंगत है? यदि कलाकार की सृजन शक्ति और अस्मिता का अस्तित्व स्वीकार करें तो किसी भी रचना के निजी स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं नकारा जा सकता। यह अलग प्रश्न है कि सृजन की किस सीमा रेखा से इस स्वतंत्र और निजीपन की पहचान शुरु होती है। यह लेख इस प्रश्न पर विचार करने का एक लघु एवं प्रारंभिक प्रयास है।

परिवर्द्धन और पुनर्सृजन के संदर्भ में रचना के स्वतंत्र अथवा पराश्रित अस्तित्व के परीक्षण के लिये प्रस्तुत लेख में दो खंडों में 'निराला' की दो मूल एवं कुछ अनूदित रचनाओं के 'अनामिका' एवं 'कवितावली' में संकलित एवं पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित स्वरूपों का आधार ग्रहण करके उनके तुलनात्मक परीक्षण द्वारा किसी निश्चित निर्णय तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। (द्रष्टव्य – अनामिका 1923; अनामिका 1937 का प्रथम संस्करण; 1963 का चतुर्थ संस्करण;

'कवितावली' का प्रथम 1949 एवं तृतीय 1964 का संस्करण; 'मतवाला', 'समन्वय' एवं 'देशदूत' के अंक; 'वीरवाणी' का 15वां संस्करण, स्वामी विवेकानंद)। मूल रचनाओं में 'उदबोधन' एवं 'दिल्ली' शीर्षक सन् 1924 की (मुद्रण की मूल से अनामिका चतुर्थ संस्करण में प्रकाशन तिथि 1934 दी गई है)– दो कविताएं ली गई हैं। अनूचित रचनाओं में 'अनामिका' में संकलित स्वामी विवेकानंद की तीन लम्बी कविताएं सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त दो–दो छोटी बंगला और अंग्रेज़ी कविताओं के अनुवाद भी लिए गए हैं जो क्रमशः 'गीत गुंज–2' के परिशिष्ट एवं 'नए पत्ते' काव्य–संकलन में मिलते हैं।

यहां इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है कि 'अनामिका' में संकलित, निराला द्वारा अनूदित कवि गुरु ठाकुर की तीन कविताओं और एक कवि गुरु के भावों पर आश्रित कविता को इस अध्ययन में सम्मिलित नहीं किया गया है। निराला कृत इन दो कवियों की रचनाओं के अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन निःसंदेह श्रेयस्कर होता परन्तु मूल रचनाओं की सुलभता, तथा स्थान–समय की सीमा के कारण यह संभव नहीं हो सका। इस अध्ययन की एक सीमा यह भी है कि प्रत्येक रचना से एक–एक उदाहरण लेने का ही प्रयास किया गया है और पूरी रचना की विस्तृत चर्चा नहीं की गई है। निराला का अभिन्न संबंध स्वामी विवेकानंद से रहा है। अतः उनकी छोटी और बड़ी बंगला रचनाओं के साथ अंग्रेज़ी रचनाओं के अनुवाद भी इस अध्ययन में सम्मिलित हैं। विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से जहां छोटी कविताओं के अनुवाद में पाठ–धर्मिता का निर्वाह मिलता है, वहीं लंबी रचनाओं के अनुवाद में निराला की शिल्प–दृष्टि प्रभावी धर्मी हो गई है। इससे हमें अनुवादक–रूपान्तरकार निराला की सृजन–धर्मिता एवं कला–क्षमता का परिचय ही मिलता है।

खण्ड एक : निराला की दो कविताओं के संस्करणगत परिर्तनों का अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन में सर्वप्रथम 'अनामिका' नाम से प्रकाशित निराला के दो काव्य संग्रहों की चर्चा के बाद द्वितीय अनामिका (सन् 1937) में संकलित दो कविताओं की संस्करणगत भिन्नता का विवेचन है। 'अनामिका' नाम से निराला की जो छोटी काव्यकृति सन् 1923 में सेठ महादेव प्रसाद के प्रयास से प्रकाशित हुई (भूमिका में पं. चंद्रशेखर शास्त्री की सम्मति के नीचे दी गई तिथि है 03.07.

23), उसके 'इनर कवर' पर कालिदास संबंधी प्रसिद्ध श्लोक 'पुरा कवीयां...' मुद्रित है जिसमें 'अनामिका' शब्द अकेला अलग से एक पंक्ति में दिया गया है। यहां सेठ महादेव प्रसाद की एक पृष्ठ की भूमिका है और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'पंचवटी–प्रसंग' संबंधी सम्मति भी उद्धृत है जिसमें निराला द्वारा हिंदी में 'एक अभूतपूर्व नई शैली का समावेश' करने की चर्चा है। 40 पृष्ठों के इस संग्रह में कुल 9 रचनाएं हैं। इनमें से दो 'सच्चा प्यार' और 'लज्जिता' को छोड़कर शेष 7 (पंचवटी–प्रसंग, अधिवास, अध्यात्म–फल, माया, जूही की कली, तुम और मैं और जलद) को 'परिमल' में संकलित किया गया है। विषय–सूची और कविता प्रारंभ के बीच एक स्वतंत्र पृष्ठ पर 'सूर्यकांत' का चार पंक्तियों का एक छोटा सा छंद दिया गया है (डी.फिल. के शोध कार्य के संबंध में डॉ. रामरतन भटनागर से साभार प्राप्त सूचना)। निराला के इस प्रथम संग्रह के आकार–प्रकार के संबंध में कुछ सूचना बच्चन जी ने अपने एक लेख में (निराला स्मृति अंक, साप्ताहिक हिंदुस्तान, 11 जनवरी 1962, 'मतवाला–निराला', पृष्ठ 6) इन शब्दों में दी है : " 'अनामिका' 'उच्छवास' से लम्बाई–चौड़ाई में एक–एक अंगुल कम है। उसे शायद डिमाई 16 पेजी साइज़ कहते हैं। उसमें कुल मिलाकर 40 पृष्ठ हैं। पतले कार्ड–बोर्ड का मैला कवर है। पुस्तक का नाम कुछ बड़े टाइप के टेढ़े अक्षरों में बैगनी रंग में छपा है; प्रकाशक हैं नवजादक लाल श्रीवास्तव, 23 शंकर घोष लेन, कलकत्ता। X X कवर की पीठ पर छोटी–मोटी कुछ किताबों का विज्ञापन है। " बच्चन जी के अनुसार इस संग्रह में मुक्त छंद (जूही की कली) एवं छंदोबद्ध (अध्यात्म–फल) दो शैलियों का प्रयोग है; इन दोनों का सम्मिश्रण 'तुम और मैं' रचना में मिलता है।

ध्यातव्य है कि यहां प्रथम 'अनामिका' का उल्लेख निष्प्रयोजन नहीं है। इस कृति का सन् 1937 में प्रकाशित 'अनामिका' संकलन से कोई संबंध–साम्य नहीं है। स्वयं कवि अनामिका द्वितीय के 'प्राक्कथन' में यह स्वीकार करते हैं कि इस 'अनामिका' में उस प्रथम अनामिका का 'कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं, उसकी अधूरी रचनाएं निकाल दी गईं और 'अच्छी' 'परिमल' में आ गईं। वहीं नामकरण इस कृति को उसे समर्पित करने के लिये किया गया है। यह चतुर्थ संस्करण 1963 में मुद्रित हुआ। 'अनामिका' के इन दोनों संस्करणों की तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि इनकी विषय सामग्री में तो समानता है परन्तु इनकी रूपाकृति की योजना के क्रम में थोड़े–बहुत परिवर्तन हुए हैं (परिशिष्ट–2)। इनमें सम्मिलित कविताओं की संख्या नहीं बदली है परन्तु कुल पृष्ठ संख्या में

अंतर मिलता है। दोनों संस्करणों की कविताओं में कुछ शब्दों, पदबंधों, विराम चिह्नों, वर्तनी और पंक्तियों के बीच छोड़े गए स्थानों के अतिरिक्त और कोई अंतर नहीं मिलता। इस दृष्टि से अनामिका के चतुर्थ संस्करण को सही अर्थों में उसके प्रथम संस्करण का पुनर्मुदित संस्करण मानना न्यायोचित है।

यहां इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना भी संगत होगा कि संकलन की रचनाओं का मिलान उनके पत्रिकाओं में प्रकाशित रूपों से करने पर कुछ रचनाओं के पाठों में हमें अंतर मिलता है। यह परिवर्तन नई पक्तियां जोड़ने और पुरानी पंक्तियों के लोप दोनों ही रूपों में मिलता है। ऐसे परिवर्तन जहां कुछ पंक्तियों तक सीमित हैं, वहां तो रचना के स्वरूप में कोई आधारभूत अंतर नहीं मिलता। परन्तु जहां ये परिवर्तन–परिवर्द्धन भावाभिव्यक्ति की विशदता की दृष्टि से किए गए हैं अथवा इनका विस्तार अनुच्छेद तक हुआ है, वहां निश्चित रूप से रचना में नएपन का समावेश हुआ है। यह अलग बात है कि ऐसी रचनाओं की संख्या बहुत कम है, परन्तु रचयिता की सर्जनात्मक शिल्प–दृष्टि की परिचायक होने के कारण ये महत्वपूर्ण, अतः अनुपेक्षणीय भी हैं।

'अनामिका' में संकलित 'उद्‌भोधन' शीर्षक कविता के दोनों संस्करणों में प्रस्तुत रूपों की तुलना करने पर रचना के व्यक्त बाह्य स्वरूप में कुछ मामूली परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं।

प्रथम संस्करण में प्रस्तुत इस कविता के छंद एक निरन्तर क्रम में हैं, उन्हें छंद–बद्ध नहीं किया गया है। 4–4 पंक्तियों के चार छंद यानी 16 पंक्तियां दो पृष्ठों में रखी गई हैं।

चतुर्थ संस्करण में निराला ने इन्हें 4–4 पंक्तियों के छंद का रूप दे दिया है और उन्हें 3, 4 और 1 की संख्या के तीन पृष्ठों में रखा है। निराला की यह रचना तुकान्त है, इसका तुक 1–3 और 2–4 पंक्तियों में मिलता है। इस कविता के 'मतवाला' में प्रकाशित रूप को देखने पर यह ज्ञात होता है कि वहां उसका शीर्षक रचना की पहली पंक्ति का अंश 'गा अपने संगीत' रखा गया है। एकाध शब्द, पद–बंध और उनमें क्रम–परिवर्तन के अतिरिक्त 'मतवाला' क पाठ के साढ़े तीन छंद अर्थात् लगभग आधी कविता सर्वथा भिन्न रूप में दिखाई देती है। यह परिवर्तन छंद संख्या 4, 5, 6 की अंतिम दो पंक्तियों में और छंद 7 में मिलता है। अभिप्राय यह है कि प्रारंभिक तीन छंदों और एक छंद के अतिरिक्त बीच की पूरी रचना निराला ने 'अनामिका' में बदल दी है। दोनों पाठ द्रष्टव्य हैं:

'मतवाला' : गा अपने संगीत' का पाठ

छंद 4

देख एक वह मेघ–शाम का करता आंखें लाल,
हो रहा मेरा हृदय हताश,
भरी नाव का त्रस्त उधर मल्लाह गिराता पाल,
उसे क्या जाने क्या विश्वास।

'अनामिका' (च.सं.) उद्‌बोधन का पाठ

छंद 4

कांपे पुनर्वार पृथ्वी तारक कर परिणय पाल,
सुगंधित हो रे फिर आकाश,
पुनर्वार गाएं नूतन स्वर, नव कर से दे ताल,
चतुर्दिक छा पाए विश्वास।

'मतवाला' : गा अपने संगीत' का पाठ

छंद 5

नहीं जानता, उन्मादिनी उठी जब तेरी तान,
मेघ का गर्व करेगी दूर,
किस अज़ान में छिपने को भागेगा लेकर जान,
यही जो बना घूमता शूर।

'अनामिका' (च.सं.) उद्‌बोधन का पाठ

छंद 5

मंद्र उठा तू बंद–बंद पर जलने वाली तान,
विश्व की नश्वरता कर नष्ट,
जीर्ण–शीर्ण जो दीर्ण धरा में प्राप्त करे अवसान
रहे अवविष्ट सत्य हो स्पष्ट।

'मतवाला' : गा अपने संगीत' का पाठ

छंद 6

मुक्त देखकर भीतर आएगा जब विश्व विराट
सुनेगा तब उसका गुंजार।

'अनामिका' (च.सं.) उद्‌बोधन का पाठ
छंद 6

आए आन्यंतर संयत चरणों से नव्य विराट
करे दर्शन, पाए आभार।

'मतवाला' : गा अपने संगीत' का पाठ
छंद 7

अतः छोड़कर सष शंकाएं गरज गरज कर वीर
उठता जा नवीन निर्घोष,
मत मुंह मोड़, जगाता जा जर्जर हृदयों में धीर
नरन पर वही नवीन संतोष।

'अनामिका' (च.सं.) उद्‌बोधन का पाठ
छंद 7

छोड़, छोड़ दे शंकाएं, रे निर्भर शक्ति वीर;
उठा कोमल निर्मल निर्घोष,
देख सामने, बना अचल उपलों का उत्पल, धीर!
प्राप्त कर फिर नवीन संतोष!"

निराला की एक ही कविता के इन दो प्रारंभिक एवं परवर्ती पाठों की तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक पाठ जहां पीछे मुड़कर न देखने का आग्रह करता है, जहां गौरव गान न करने का कारण पूछा गया है, जहां 'अंधावेग' प्रमंजन द्वारा पीले पत्ते उड़ाकर राह साफ कर पुनः प्रत्यागमन की बात कही गई है, वहीं परवर्ती 'उद्‌बोधन' में निराला का प्रखर क्रांतिकारी स्वर जीर्ण–शीर्ण प्राचीन के आमूल विध्वंस के बाद नवीन का मुक्त आह्‌वान करता है, जहां मात्र 'सत्य' अवशिष्ट रहता है। निस्सदेंह प्रारंभिक रचना में प्राप्त हताशा और संशय का जो भाव विश्वास को आच्छादित किए है वह बाद में कहीं भी प्रतिच्छाचित नहीं है; और परवर्ती रचना पूर्ण रूप से क्रांतिमूलक अखंड विश्वास के भाव को प्रस्तुत करती है। स्पष्ट है कि रचना की मूल संवेदना निराला द्वारा किए परिवर्तनों के बाद यथातथ्य नहीं रह सकी है। यह भी उल्लेखनीय है कि ये तथ्य प्रारंभिक उन तीन छंदों से ही स्पष्ट हो जाते हैं जिनमें कुछ शब्दों, पदबंधों में ही परिवर्तन किया गया है। यही तथ्य बदले गए तीन छंदों में प्रस्तुत शब्द बिम्बों के तुलनात्मक अध्ययन से और भी मुखर

होकर सामने आता है। 'मतवाला' के पाठ में निराला ने शाम–मेघ की लाल आंखों और त्रस्त मल्लाह, उन्मादिनी की तान से त्रस्त होकर भागने वाले शूरवीर, पीछे मुँह न मोड़ने के लिये सतर्क वीर के जो चित्र दिए हैं, वे संशय से आच्छादित विश्वास को ही सामने ला सकते थे। इसके विपरीत अनामिका का 'उद्‌बोधन' प्रखर क्रांतिकारी विप्लवी चेतना से ओत–प्रोत है। दुर्बल विश्वास को ढहाने के स्वर पर बल देती प्रारंभिक रचना अपने परवर्ती संशोधित रूप में अमूल क्रांति द्वारा उत्पन्न नए स्वर–ताल से आप्लावित अखंड विश्वास को सार्थक–सशक्त रूप में व्यक्त करती है।

कविता की मूल संवेदना एवं शब्द–बिम्बों द्वारा प्रस्तुत ये सभी तथ्य निराला की शिल्प–विधि द्वारा समर्थित हैं। प्रारंभिक रचना की वाक्य योजना एवं शब्द चयन की शिथिलता परवर्ती संशोधित रचना में सामासिक प्रवृत्ति से उत्पन्न सुगठित कसाव पाकर निराला की प्रभावी कलात्मक अन्विति का साक्ष्य बन जाती है। इन दोनों रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन हताशा से विश्वास तक, जीर्ण–शीर्ण से अखण्ड क्रांतिमूलक सत्य तक, विगतमुखी होने की अपेक्ष अग्रगामी दृष्टि विस्तार तक की विकास यात्रा की कथा तो कहता ही है, साथ ही निराला की उतरोत्तर विकसित कला साधना का परिचय देकर इस सत्य का साक्ष्य भी बनता है कि रचनाकार द्वारा रचना का पुनःरावलोकन निश्चय ही पुनर्सृजन की प्रक्रिया को आत्मसात किए रहता है। यद्यपि दोनों पाठों के कथ्य में प्राप्त आंशिक समानता की उपेक्षा करना असंगत होगा तथापि इस संदर्भ में विचारणीय प्रश्न यह भी है कि क्या मात्र इसी आधार पर इन्हें एक ही रचना के दो संस्करण मानना न्यायसंगत होगा? क्या रचना के मूल संवेघ, उसका समर्थन करने वाले शब्द–बिम्ब एवं शिल्प–विधान उपेक्षनीय हैं? स्वयं कवि द्वारा किए गए परिवर्तन–परिवर्धन–संशोधन यदि पुनर्सजन के दायरे में आते हैं तो उन्हें अनदेखा कैसे किया जा सकता है? 'मतवाला' और 'अनामिका' के मूल संशोधित पाठ दो भिन्न–भिन्न संस्करण हैं या नहीं, इसकी अपेक्षा स्वतंत्र रचना के रूप में इनके अस्तित्व–अस्मिता की पक्षधरता का प्रश्न सम्प्रति अधि ाक महत्वपूर्ण, अतः विचारणीय है। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि स्वमा में आमूल परिवर्तन निराला का अभीष्ट कभी नहीं रहा, उनकी कला–शिल्प की विकासोन्मुखी दृष्टि सदैव तत्पर एवं मुखर रही है।

'दिल्ली' निराला की एक दूसरी कविता है जिसके 'अनामिका' वाले पाठ में निराला ने तीन स्थानों पर नए अनुच्छेदों को जोड़ा है; साथ ही 'मतवाला' में

प्रकाशित पाठ की कुछ पंक्तियों को निकाल भी दिया है। इससे 'मतवाला' की रचना लघुकाय है। यह भी स्मरणीय है कि रचना के मूल संदेश को पूरी तरह प्रभावित न करने पर भी उसकी उत्कृष्टता के पक्षधर हों, यह ज़रूरी नहीं है। 'दिल्ली' के 'अनामिका' में दिया संशोधित पाठ वस्तुतः निराला की रचना–ध ाार्मिता की सतत विकासशील चेतना का परिचायक है जो कवि के जाग्रत विवेक और चिंतन की नई दिशाओं की सूचना भी देता है। भारत का भाग्य चक्र बदलने वाली 'दिल्ली' के बारे में प्रश्न उठाकर निराला 'मतवाला के पाठ में भारत के विगत का स्मरण करते हैं, पर 'अनामिका' तक पहुंच कर उन्होंने स्वर्ण–प्रतिमा भारत के आकर्षण को भी रचना के समाविष्ट कर लिया है। सामान्य वक्तव्य के रूप में कवि प्रश्न करते हैंः–

'मतवाला' का पाठ

I/ "क्या यह वही देश है
घूमता हुआ ही जहाँ देखा गया
भारत का भाग्य चक्र?"

'अनामिका' का पाठ

I/ "यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहाँ
भारत का भाग्य चक्र?

I-A/ आकर्षण तृष्णा का
खींचता ही रहा जहाँ पृथ्वी के देशों को
स्वर्ण–प्रतिमा की ओर?
उठा जहाँ शब्द घोर
संसृति के शक्तिमान दस्युओं का अदमनीय,
पुनः पुनः बर्बरता विजय पाती गयी
सभ्यता पर, संस्कृति पर,
काँपे सदा रे अधर जहाँ रक्तधारा लख
आरक्त हो सदैव।

'मतवाला' का पाठ

II/ पृथ्वी की वीरता के विजय–उल्लास का–

A. यमुना पुलिन में मलिन,
छिन्न वस्त्र धारण किए
नारियों की महिमा उस सती संयोगिता का अंतिम आह्वान
ध्वस्ति भारत के अविश्वस्त अवनत ललाट पर
आत्मबलिदान से
अपने ही रक्त का टीका लगाते हुए
सुनते खड़े थे जहां भय–कातर,
मुख था विपर्ण हुआ
संज्ञाहीन दृष्टि हुई
आत्मविस्मृत बदले पर तुले इस भारत की?"

'अनामिका' का पाठ

II/ क्या यह वही देश है–

B. यमुना पुलिन से चल
'पृथ्वी' की चिता पर
नारियों की महिमा उस सती संयोगिता ने
किया आहूत जहां विजित स्वजातियों को आत्म बलिदान से
'पढ़ो रे, पढ़ो रे पाठ,
भारत के अविश्वस्त अवनत ललाट पर
निज चिता भस्म का टीका लगाते हुए।'
सुनते हो रहे खड़े भय से विवर्ण जहां
अविश्वस्त, संज्ञाहीन, पतित, आत्मविस्मृत नर?

दोनों पाठों की तुलना से यह स्पष्ट होता है कि अनाममिका IA वाला अंश परिवर्द्धन के रूप में जोड़ा गया है जो कवि के जाग्रत चिंतन क्रम का परिचायक है। II वाले अंशों पर ध्यान दें तो प्रभाव और शैली की दृष्टि से अनामिका का पाठ अधिक सुसंगठित और संसक्त है, अतः प्रभाव एंव विशदता की दृष्टि से सहज ही सुष्ठु–श्रेष्ठ है। स्पष्ट है कि 'अनामिका' का संशोधित पाठ तथ्यों के परिवर्द्धन के साथ ही रचना के स्वरूप, कथन–भंगिमा में भी

अंतर लाता है। सामान्य सूचनापरक कथन शैली की अपेक्षा प्रत्यक्ष कथन–शैली को अपनाना रचना के प्रभाव–सामर्थ्य का संवर्द्धन करता है। 'अनामिका' के पाठ में जोड़ी गई पंक्तियां निराला की सतत विकासमान मानवतावादी दृष्टि की परिचायक हैं जो उन्हें भौतिक सभ्यता एवं जड़ संस्कृति की आलोचना में प्रवृत्त करती है यानी अब कवि विगत वैभव के स्मरण मात्र से संतुष्ट नहीं होता। इस रचना के अन्य संशोधन भी इसी धारणा की पुष्टि करते हैं कि निराला यमुना पुलिन से सम्बद्ध स्नेहानुराग को अस्वीकार तो करते हैं परन्तु उससे आगे बढ़कर उस नीरव मौन को भी रचना में सम्मिलित कर लेते हैं जिसका साक्षी इतिहास रहा है। रचना के मूल स्वर को युगल स्वर प्रदान करने वाले ये संवर्द्धन वस्तुतः रचना के स्वतंत्र अस्तित्व के प्रश्न को अधिक सार्थक बना देता है। पर ये नवीन मौलिक विकल्पन रचना में आमूल परिवर्तन करें, यह ज़रूरी नहीं।

ध्यातव्य है कि स्वयं निराला अपनी रचना प्रक्रिया में समागत संशोधन संवर्द्धन के विषय में मौन हैं। निराला अपनी रचनाओं में पुनरावलोकन द्वारा काट–छाट किया करते थे, इसके प्रमाण हमें मिलते हैं। अपनी हस्तलिखित गीतों की एक नोट बुक के दूसरे पृष्ठ पर दिए गीत के प्रारंभ में लिखी 6 पंक्तियों को निराला ने काट दिया है। बाद में 10 पंक्तियों में जो गीत दिया है उसमें भी पुनः संशोधन किए गए हैं। (श्री नारायण चतुर्वेदी जी द्वारा दिखाई गई नोट बुक से प्राप्त सूचना के आधार पर प्रस्तुत साक्ष्य)

प्रारूष–एकः

~~पुण्य पर्व नभ धन मंडलाए।~~
~~बार बार गुरु गर्जन छाए।~~
~~आमों से लदे बाग परसे,~~
~~धानों के खेतों पर बरसे,~~
~~युक्ती निकली अपने घर से,~~
~~पुरवाई के झोंके खाए।"~~

प्रारूप–दोः

श्याम गगन नव–धन मंडलाये,
कानन–गिरि–वन आनन छाये।
लदे बाग आमों के परसे,

धानों के खेतों पर बरसें।
युवती निकली गागर से,
~~पुरवाई के झोंके खाए~~
पुरवी प्रिय को गले लगाए।

यह गीत 'सांध्य–कामली' संग्रह के पृष्ठ 18 पर दिया गया है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि जहां भी कवि ने संशोधन की सीमा का अतिक्रमण कर रचना के मूल स्वर–संवेग को नया रूप दिया है, वहां भी रचना का व्यक्त बाह्य रूप पूर्ववत बना रह सकता है। पुनर्सृजन की प्रक्रिया से नया स्वतंत्र रूप धारण कर चुकी रचना की अस्मिता–सार्थकता का प्रश्न निश्चित रूप से विचारणीय है।

खण्ड दो : स्वामी विवेकानंद की बांग्ला–अंग्रेज़ी कविताओं के निराला कृत अनुवादों का अध्ययन

प्रेमचंद की कहानियों के अंग्रेज़ी अनुवादों का अध्ययन जहां हमें अनूचित रचना के स्वतंत्र अस्तित्व की दिशा में सोचने को विवश करता है, वहीं निराला–कृत स्वामी विवेकानंद की कविताओं के अनुवाद इस मान्यता का खंडन करते हैं। यहां निराला ने अपने अनुवाद में मूल पाठ की विधा में कोई परिवर्तन नहीं किया है। कविता की पंक्तियों में अपवादतः ही बाह्य प्रस्तुति में अन्तर मिलता है, अन्यथा अनुवाद में छंद, लय, बिम्ब आदि सभी दृष्टियों से मूल पाठ का पूर्ण अनुसरण किया गया है। कथ्य की प्रभावशाली और कलापूर्ण अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये अनुवाद निराला की उर्वर सृजन–शक्ति के परिचायक हैं; इनमें पाठ–साम्य एवं प्रभाव–साम्य के धर्म का युगल निर्वाह किया गया है। यही कारण है कि इनके आधार पर अनूदित रचना के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता; साथ ही कविता के अनुवाद को लगभग असंभव मानने की प्रचलित मान्यता का खण्डन भी ये अनुवाद करते हैं; इस मान्यता का समर्थन भी करते हैं कि अनुवाद पर सर्वदा अनुवादक की अपनी शैली हावी नहीं होती है। इस दृष्टि से ये अनुवाद निराला की अनुवाद क्षमता का स्वयं सिद्ध प्रमाण माने जा सकते हैं।

निराला–कृत इन अनुवादों की सफलता के कुछ संभाव्य कारण अनायास ही स्पष्ट हैं। बंगला–हिंदी भारतीय भाषाएं हैं और अंग्रेज़ी विदेशी भाषा है और निराला का हिंदी एवं बंगला दोनों से घनिष्ठ संबंध होने के अनुवाद में

आशातीत सफलता पाना सहज है। यही नहीं, स्वामी जी की अंग्रेज़ी कविताओं के अनुवाद भी हमें यह सोचने को विवश करते हैं कि भाषा परिवारों की भिन्न अस्मिता की अपेक्षा यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि निराला पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद का गहरा, स्थायी प्रभाव रहा है। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि स्वामी विवेकानंद के आधारभूत रूप से एक चिन्तक और दार्शनिक होने के कारण उनका साहित्यिक रूप उतना प्रखर नहीं रहा कि वह निराला के लिये चुनौती बनता। निराला द्वारा किये गये रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कविताओं के अनुवादों से तुलना करने पर कोई अंतिम निर्णय मिल सकता है, परन्तु उन्हें सम्मिलित न कर सकना इस अध्ययन की सीमा है।

स्वामी विवेकानंद की रचनाओं के निराला द्वारा किए गये ये अनुवाद 'मतवाला समन्वय' में प्रकाशित हुए हैं और अपने यथातथ्य रूप में 'कवितावली' में संकलित हैं। प्रकाशक की धारणा के अनुरूप इन बंगला कविताओं के अनुवादों में भाव और शैली ज्यों की त्यों रखी गई है। 'कवितावली' के प्रथम और तृतीय संस्करणों को देखने पर उनमें दी गई बंगला और संस्कृत की दस रचनाएं में से नौ का अनुवाद निराला ने किया है और एक अंग्रेज़ी कविता 'द सांग ऑफ़ सन्यासी' का अनुवाद 'सन्यासी का गीत' शीर्षक से श्री श्यामसुंदर खत्री ने किया है। स्वामी जी की बंगला–अंग्रेज़ी रचनाओं के ये अनुवाद साथ–साथ सम्मिलित हैं, परन्तु यहां मूल रचना के अंग्रेज़ी में होने का कोई संकेत या सूचना नहीं दी गई है। तृतीय संस्करण में स्वामी जी की सभी रचनाओं के अनुवाद संकलित हैं जिन्हें चार विभागों में रखा गया हैः प्रथम भाग– 22 अंग्रेज़ी कविताओं का; द्वितीय भाग' 9 बंगला रचनाओं का; तृतीय भाग– 4 संस्कृत स्त्रोतों का अनुवाद और चतुर्थ भाग– एक स्वतंत्र हिंदी रचना दी गई है। इस संस्करण में श्री सुमित्रानंदन पंत और श्री विनय मोहन शर्मा के अनुवाद भी सम्मिलित हैं।

(i) बंगला कविता :– स्वामी विवेकानंद की लंबी बंगला कविताओं के अनुवाद की तुलना मूल पाठ से करने पर यह स्पष्ट होता है कि अभिव्यक्ति के धरातल पर इन अनुवादों में निराला की कलात्मक सृजन–सीमा मुखरित है। यद्यपि इनकी दृष्टि विषय–प्रधान है। स्वामी जी की 140 पंक्तियों की एक लंबी कविता 'गाई गीत शोनाते तोमाय' का अनुवाद निराला ने 'अनामिका' में 160 और 'कवितावली' में 110 पंक्तियों में प्रस्तुत किया है। 'कवितावी' का अनुवाद वस्तुतः अनुवाद–प्रक्रिया के नायड़ा कथित दूसरे चरण 'अन्तरण' की

शैली का परिचायक है परंतु 'अनामिका' का अनुवाद इस तथ्य का प्रमाण है कि निराला ने कवि के 'पोईटिक लाइसैंस' का पूरा उपयोग किया है। लय, प्रवाह, शुद्धता और गठन सभी दृष्टियों से यह परवर्ती अनुवाद श्रेष्ठ है। निस्संदेह रचना के पुनरावलोकन, संशोधन–पुनर्सृजन द्वारा प्रायः उनकी रचनाओं को कलात्मक प्रभावान्विति से समन्वित–मंडित करता है। प्रस्तुत रचना के तीनों पाठ मूल बंगला पाठ, कवितावली और अनामिका का पाठ प्रस्तुत है' अध्ययन की सुविधा के लिये पंक्तियों को संख्याबद्ध कर दिया गया है।

मूल बांग्ला को देवनागरी पाठ–1 : (आभार– श्रीमती शुभा देव)

1. आछो तूमी पीछे दाँडाए,
2. ताई फिरे देखी तोबो हाँशीमुख।
3. फिरे फिरे गाई, कारे ना डोराई,
4. जौन्मो मृत्त मोर पौदे तौले।
5. दाश तौवो जौन्मो–जौन्मो दौयानिधे,
6. तौबो गोती नहीं जानी!
7. मौमो गोति – ताहाओ ना जानी।
8. के वा चाय जानी करे?

कवितावली का अनूदित पाठ–2

1. "पीछे खड़े रहते हो
2A. इसीलिए हंसते हुए मुख को
2B. मैं देखता हूं बार–बार मुड़कर;
3. बार–बार गाता मैं– ख़ौफ नहीं खाता कभी,
4. जन्म और मृत्यु मेरे पैरों पर लोटते हैं।
5A. दया के सागर हो तुम
5B. दास हूं तुम्हारा जन्म–जन्म का मैं;
6. गति मैं तुम्हारी नहीं जानता हूं
7. अपनी गति? – वह भी नहीं,
8. कौन चाहता भी है जानने को?"

अनामिका का अनूदित पाठ–2

1. "पीछे खड़े रहते हो
2A. इसीलिए हास्य मुख
2B. देखता हूं बार–बार मुड़–मुड़कर।
3A. बार–बार गाता मैं
3B. भय नहीं खाता कभी
4. जन्म और मृत्यु मेरे पैरों पर लौटते हैं।
5A. दया के सागर हो तुम,
5B. दास जन्म–जन्म का तुम्हारा मैं हूं प्रभो!
6. क्या गति तुम्हारी, नहीं जानता,
7. अपनी गति, वही भी नहीं
8. कौन चाहता भी है जानने को?"

उपर्युक्त पाठों की तुलना करने से यह स्पष्ट होता है कि निराला ने मूल रचना की पंक्तियों एवं पदबंधों की योजना में विपर्यय करने के साथ ही मूल की कुछ पंक्तियों को एकाधिक पंक्तियों में (पंक्ति 2, 5 और 3) बांट दिया है। यह भी द्रष्टव्य है कि अनुवाद में सामासिकता के साथ तत्समता की प्रधानता के कारण भाषा में संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है। यथा 'हँसते हुए मुख को' 'हास्य मुख' कर देना और यह मूल पाठ के शैलीगत साम्य के अनुकूल भी है। मूल रचना में सर्वनाम 'मैं' का प्रयोग नहीं है, परन्तु श्री रामकृष्ण परमहंस देव के लिये 'तुम' सर्वनाम का प्रयोग मिलता है। निराला के अपने अनुवाद में इन दोनों ही सर्वनामों को क्रिया–रूपों के प्रयोग द्वारा प्रदर्शित किया है। 'दौयानिध ो' संबोधन को (पंक्ति 5) निराला ने अनुवाद में विश्लेषणात्मक रीति से पुनर्व्यारव्यायित किया है; यह प्रवृत्ति सर्वनाम लोप की वाचक नहीं है क्योंकि 'दया के सागर (हो) तुम'। स्वामी जी की मूल रचना छंदबद्ध है। अतः वहां हर दो पंक्तियों के बाद पूर्ण–विराम चिह्न का, विस्मयादि बोधक एवं प्रश्न चिह्न का प्रयोग किया गया है। परन्तु निराला का अनुवाद मुक्त छंद में होने के कारण इस पद्धति का निर्वाह नहीं करता। 'कवितावली' के अनुवाद में चार पंक्तियों के बाद विराम चिह्न का और आठवीं पंक्ति के अनुवाद के बाद प्रश्नचिह्न का प्रयोग मिलता है। परन्तु 'अनामिका' के अनूदित पाठ में 'प्रभो!' संबोधन भी जोड़ दिया गया है। द्रष्टव्य है कि ये सभी परिवर्तन मुक्त छंद के प्रयोग के कारण स्वाभाविक एवं सहज हैं। साथ ही निराला ने इनमें परस्पर

प्रेरक–प्रेरित अथवा कार्य–कारक संबंध स्थापित कर इनकी प्रभाव शक्ति का संवर्द्धन भी किया है। उदाहरणार्थ 'बार–बार मुड़कर देखना' ही बिना डर के गाते रहने की प्रेरक शक्ति है। तत्समता पर बल होने के कारण ही 'ख़ौफ' का रूप 'भय' में बदल गया है। अनुवाद में 'लौटना' क्रिया के प्रयोग से विवशता और निरीहता के भाव के विरोध में विजेता शक्ति के प्रभुत्व और प्रबलता के भाव को उभारा गया है, जबकि मूल कविता में मात्र प्रभुत्व की प्रबलता का द्योतन 'पौदो तोले' शब्दबंध के प्रयोग से किया गया है। मूल कविता की छठी विस्मयादि बोधक पंक्ति के अनुवाद में निराला ने सामान्य कथन की शैली अपनाई है। परन्तु 'अनामिका' के पाठ में प्रश्न–शब्द 'क्या' के प्रयोग से वाक्य को प्रश्नवाचक कर दिया गया है। 'कवितावली' के अनूदित पाठ की सातवीं पंक्ति के पहले पदबंध के बाद में प्रयुक्त प्रश्नचिह्न इसका उदाहरण है। मूल पाठ में प्रश्न–उत्तर के अंशों को 'डैश' (–) के प्रयोग द्वारा अलग किया गया है जबकि 'कवितावली' के पाठ में 'डैश' से पूर्व प्रश्न चिह्न का और 'अनामिका' के पाठ में सामान्य अर्द्ध–विराम–चिह्न का प्रयोग मिलता है। अंतिम पंक्ति का अनुवाद मूल के अनुरूप ही है। स्पष्ट है कि निराला का अनुवाद कथ्य की दृष्टि से पाठधर्मी होते हुए भी अभिव्यक्ति के धरातल पर प्रभावधर्मिता के संस्पर्श से युक्त है। सच तो यह है कि अनुवाद की अपनी आवश्यकता और अपनी रचना शैली के अनुरूप निराला ने जो परिवर्तन किए हैं वे मूल पाठ के विरोधी नहीं हैं। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि अनुवाद में न तो पुनर्सृजन का अस्तित्व नकारा जा सकता है और न ही पुनर्गठन के चरण पर उसकी अवहेलना की जा सकती है। यह स्वीकार करना भी समीचीन ही होगा कि निराला के रचना धर्मी संस्पर्श के बावजूद प्रस्तुत अनुवाद स्वतंत्र रचना के अस्तित्व को मारा नहीं करते। इसका यह भी कारण है कि अनुवाद के रूप में निराला खुद को मूल पाठ से अलग नहीं होने देते वरन् वे अभिन्न रूप से उससे निरन्तर जुड़े रहते हैं।

स्वामी विवेकानंद ने अपनी लंबी कविताओं में कहीं–कहीं भावों के स्पष्टीकरण के लिये परिचयात्मक अंश एवं पाद टिप्पणियां भी दी हैं। 'कवितावली' के पाठ में निराला ने इनका अनुवाद भी दिया है, परन्तु 'अनामिका' के अनूदित पाठों में इन्हें सम्मिलित नहीं किया गया है। कविता के अंत में मूल रचना के शीर्षक के साथ इनके अनुवाद होने की सूचना मात्र दी गई है। अपवादतः ही स्पष्टीकरण का भाव तथ्यपरक सामान्य सूचना के रूप में एकाध जगह दिया

गया है। मूल रचना के व्याख्येय अंशों का निर्दश प्रथम और अंतिम शब्द के उल्लेख द्वारा किया गया है जबकि 'कवितावली' के पाठ में इसका कोई संकेत न होकर मात्र व्यवस्था ही दी गई है। उदाहरणार्थ– निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य हैं:–

मूल पाठ–1 : "चौक्खू देखे औखिल जौगोत
ना चाही देखिते आपुनाय,"

पाद टिप्पणी : 'चौक्खू' x x आपुदनाद' शौमौस्तों विश्शो के देखिया चौक्खू आर अपुनाके देखिते चाय ना। कारोणं पौरे बोरिनितो होइयाछे।"

कवितावली : अनूदित पाठ–2

"नेह देखते हैं त्रह सारा ब्रह्माण्ड,
नहीं देखते ये अपने को,"

पाद टिप्पणी : पूरे विश्व को देखकर, आँखें जब अपने को देखना नहीं चाहती हैं। इसका कारण बाद में बताया गया है।

अनामिका : अनूदित पाठ–3

"देखते हैं नेत्र ये सारा संसार,
नहीं देखते हैं अपने को,"

जहां तक अनुवाद का प्रश्न है, निस्संदेह 'अनामिका' का अनुवाद ही श्रेष्ठ है। 'ब्रह्माण्ड' की अपेक्षा 'संसार' मूल पाठ की दृष्टि से अधिक अर्थ–व्यंजक है। यही नहीं, सर्वनाम 'ये' को 'है' में बदलने से अनुवादक नेत्र की अपेक्षा देखने की क्रिया को प्रधानता देते हैं जिससे वाक्य की योजना मूल पाठ के समानान्तर हो जाती है। यहां यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि 'कवितावली' का अनुवाद मूल के सहश एक निरन्तर क्रम में दिया गया है जबकि 'अनामिका' के अनूदित पाठ को निराला के प्रसांगानुरूप अलग–अलग खण्डों में बाँट लिया है। अनुवाद को इस प्रकार भी छूट लेने का अधिकार है या नहीं, यह अलग प्रश्न है परन्तु यह तथ्य पुनः प्रमाणित करता है कि निराला का अनुवाद पाठधर्मी होकर भी अभिव्यक्ति–शिल्प के धरातल का प्रभावधर्मिता का परिचय देता है।

स्वामी विवेकानंद की दूसरी लम्बी कविता 'नाचुक ताहाते श्यामा' एक छंदबद्ध अतुकान्त रचना है। प्रारंभ में ही कवि ने विस्तृत परिचय देकर कविता की मूल भावना को स्पष्ट किया है। एक छंद को चार चरणों और दो पंक्तियों में (= =) रखा गया है। अपने अनुवाद में निराला ने 28 मात्रा के तुकान्त छंद का प्रयोग किया है और एक पंक्ति का अनुवाद सविस्तार एक छंद में किया है। 'कवितावली' के अनुवाद में पंक्ति–पाठ योजना मूल के अनुरूप है, परन्तु 'अनामिका' के अनुवाद में निराला ने मूल के प्रत्येक चरण को एक–एक अलग पंक्ति में दिया है और चारों पंक्तियों को एक समानान्तर क्रम में (☰) रखा है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 'अनामिका' के प्रथम संस्करण में प्रत्येक पंक्ति मुक्त छंद की शैली के अनुरूप छोटी–बड़ी रहने दी गई है। परन्तु चतुर्थ–संस्करण में उसे छंदबद्ध रूप में मुद्रित किया गया है। यहां निराला ने परिचायात्मक वक्तव्य को संक्षेप में सामान्य सूचना में बदल दिया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:

मूल पाठ–1 :

"चित्रोकार, तोरून भाश्कोर, शुबोर्नो तूलिकौर, छोय मात्रो धोरापोटे।
बौरनो खैला धोरातोले छाए, राग पौरिचोय भाबोराशि जेगे उठे।।"

अनूदित पाठ–2 : कवितावली–2

"तरुण चितेरा अरुण बढ़ाकर स्वर्ण तूलिका कर–सुकुमार।
पट पृथ्वी पर रखता है जब, कितने वर्णों का संचार।।
हो जाता है जगती तल पर खिलते कितने राग अपार।
देख–देख भावुक जन–मन में जगते कितने भाव उदार।।"

अनूदित पाठ : अनामिका–3

"तरुण चितेरा अरुण बढ़ाकर
स्वर्ण तूलिका कर–सुकुमार
पट पृथ्वी पर रखता है जब,
कितने वर्णों का आभार।
धरा अधर धारण करते हैं;
रंग के, रोगों के ओंकार,
देख–देख भावुक जन–मन में,

जगते कितने भाव उदार।"

प्रस्तुत पंक्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि मूल की डेढ़ पंक्ति का अनुवाद दो पंक्तियों में किया गया है और मूल के अंतिम चरण को दो–चार पंक्तियों के अगले छंद में स्पष्ट किया गया है। यहां अनुवाद में अपनाई गई निराला की मौलिक रचनात्मक–प्रतिभा का परिचय भी मिलता है। साथ ही उनके द्वारा अपनाई गई पुनर्व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग भी इस संदर्भ में दृष्टव्य है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं:

मूल पाठ–1 :

"मेघो मौन्द्रो कुलीश निश्शौन, मोहारोन, भूलोक–दुलोक व्यापी।
औंधोकार उगोरे आंधार, हूं हूंकार शोशीये प्रौलोय वायु।।"

अनूदित पाठ : 'कवितावली' – 'अनामिका' – 2

"गरज रहे हैं मेघ अर्शान का गूंजा घोर–निनाद–प्रमाद।
स्वर्ग–धरा–व्यापी संगर का छाया विकट–कटक–उन्माद।।
अंधकार उद्‌गीरण करता अंधकार घन घोर अपार।
महाप्रलय की वायु सुनाती सांसों (श्वासों) में अगणित हुंकार।।"

यहाँ यह तथ्य रेखांकित किया जाना ज़रूरी है कि सामान्यतः व्याख्यात्मक शैली अपनाने पर भी अपवादतः एक स्थान पर निराला ने मूल पाठ की संख्या 24 के अंतिम चरण का अनुवाद छोड़ दिया है। इस पूरी रचना में यही एक ऐसा छंद है जिसके चरणों एवं पंक्तियों में निराला ने विस्तार नहीं किया है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:

मूल पाठ–1 :

"छाग कौंठो रूधिरेर धार, भौयेर शौंचार, देखे तोर हिया काँपे।
का पुरुष! दौयार–आधार! धौन्नो बेबोहार! मोर्मो कौथा बोलि काके?"

पाद टिप्पणी : 'छाग' x x काके?' बोलि दीते गेया रौक्तो देखिया भौय कौम्पितो देहो। भौय ओबोशाय इत्वादि दुर्बोलतार, लौक्खोन। प्रेम मानुष के निर्मीक कौरे। एदीके शार्थो शिद्धिर आशाय हौय तो काहारो शौर्बोनाश कौरि जौन्नाई पूजार आयोजौन। किन्तू रौक्तो देखियाई भौय औस्थीर।

अनूदित पाठ : कवितावली (अनामिका)–2

"छाग कंठ की रूधिर धार से सहम रहा तू भ्रम–संचार!
अरे का पुरुष! बना दया का तू आधार – (!) धन्य व्यवहार।"

पाद टिप्पणी : बलि देते समय रक्त देखकर भय से देह काँप उठती है। भय, अवसाद इत्यादि दुर्बलता के लक्षण हैं। प्रेम मनुष्य को निडर बनाता है। इधर स्वार्थ–सिद्धि की आशा में, ऐसे तो किसी का सर्वनाश करने के लिये ही पूजा का आयोजन किया गया है; परन्तु रक्त देखकर ही भय से अस्थिर हो जाता है!!"

"शौखार प्रोति" स्वामी विवेकानंद की 50 पंक्तियों की लंबी तुकान्त रचना है जो मुक्तछंद की शैली में लिखी गई है। निराला के अनुवाद 'सखा के प्रति' 32 मात्रा के तुकान्त छंद में 60 पंक्तियों में प्रस्तुत है। 'कवितावली' और 'अनामिका' (प्र.सं.) में ये पंक्तियां एक निरन्तर क्रम में रखी गई हैं; परन्तु 'अनामिका' (चतुर्थ संस्करण) में निराला ने 4–4 पंक्तियों को साथ रखकर उन्हें एक छंद का रूप दे दिया है जिसे दो छंदों के बीच कुछ रिक्त स्थान छोड़ कर संकेतित किया गया है। शिल्प–विधान की दृष्टि से अनुवाद में यहां कोई अंतर नहीं आया है। उदाहरण के लिये मूल पाठ की 6–10 और अनूदित पाठ की 7–12 पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:

मूल पाठ–1 :

"कौर्मो–पाश गौले बाँधार जार – कृतो दाश बौलो कौथा जाय,
जोग–भोग, गार्होस्थो शोन्नाश, जौप–तौप, धौन उपार्जोन,
ब्रोतो, त्यैग, तोपोश्शा कौठोर, शौब मोर्मो देखेछी एबार;
जेनेछी शूखेर नाहीं लेश शोरीर धारोन बिडौम्बौन;
जौतो उच्चो तोमार हृदौय, तौतो दुक्खो जानि हो निश्चौय।"

अनूदित पाठ : 'कवितावली' – 'अनामिका' – 2
"कर्म–माश से बंधा गला वह क्रीतदास जाए किस ठौर?
(सोचा, समझा है मैंने पर एक उपाय न देखा और)*
योग–भोग, जप–तप (,) धन–अर्जन (संचय), गृह–आश्रम (गार्हस्थाश्रम, कठोर (दृढ़) संन्यास)

त्याग–तपस्या–व्रत सब देखा, पाया है जो मर्माभास
समझा है, न कहीं सुख है, यह तनु धारण ही व्यर्थ,
(समझा, कहीं नहीं सुख है, यह तनु धारण ही व्यर्थ)
उतना ही दुख है, जितना ही ऊँचा है तब हृदय समर्थ।"

उपर्युक्त उदाहरण के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि निराला ने मूल पाठ के पदबंधों की क्रम योजना में परिवर्तन किए हैं। 'अनामिका' का अनूदित पाठ कवि– अनुवादक की सृजन–संशोधन–प्रिय आलोचक दृष्टि का परिचायक है। यथा– 'अर्जन' की आवश्यकता को स्वीकार कर उसे 'संचय' में बदल देना; 'सन्यास' को कठोर न मानकर उसे इसलिये 'दृढ़' कहना कि मन की वृत्तियों के शमन से उसका अनिवार्य सम्बन्ध है। अन्ततः अपने स्वतंत्र अस्तित्व की अपेक्षा यह अनुवाद भी मूल पाठ से अपनी आश्रित–निकटता का ही आख्यान करता है, साथ ही कवि–अनुवादक की दोहरी पुनर्सृजन–यात्रा को भी अनिवार्यतः रेखांकित करता है। पाठ प्रभाव–धर्मिता की द्वाभा सेयुक्त निराला के ये अनुवाद मूलाश्रित–स्वतंत्र–अनूदित रचना' जैसे विरोधाभासी शब्द–युग्म के प्रयोग की दिशा में अग्रसारित करने वाले हैं।

निराला स्वामी विवेकानंद की छोटी कविताओं के जो अनुवाद किए हैं उनके तुलनात्मक अध्ययन–अनुशीलन से यह प्रमुख अंतर सामने आता है कि ये अनुवाद, शैली की दृष्टि से भी मूल के अधिक निकट हैं, साथ ही विभिन्न संकलनों के भिन्न संस्करणों में प्राप्त इनके पाठगत अंतर भी नगण्य हैं। ये अंतर वर्तनी, विराम चिह्न अथवा एकाध शब्द या पदबंध तक सीमित रहे हैं जिनसे पाठ की लय–प्रवाह के मूल के प्रति निराला का मोह स्पष्ट होता है। 'सागर बौक्खे' कविता के 'सागर के वक्ष पर' अनुवाद में निराला ने 5 पंक्तियों की छंद योजना की प्रस्तुति में कुछ परिवर्तन किए हैं। स्वामी जी की मूल रचना की पहली पंक्ति कुछ दाईं ओर से प्रारंभ होती है और शेष चार कुछ बाईं ओर से समानान्तर रखी गई हैं ( )। निराला ने इस मूल योजना को अपने अनुवाद में केवल 2 छंदों में यथावत् रखा है (छंद 4 और 5 में), पर वहां अंतिम पंक्ति को तोड़कर उसे 2 पंक्तियों में रखने का पैटर्न अपनाया है। छंद–1 में पहली और चौथी पंक्ति कुछ दाईं ओर से प्रारंभ होती है ( )। स्वामी जी की कविता में छंदों के बीच अन्तराल नहीं है, वे एक ही निरन्तर क्रम में दी गई हैं। 'गीत गुंज–2' में निराला ने मूल के इसी प्रारूप का अनुसरण किया है परन्तु 'कवितावली' में प्रस्तुत रचना में दो छंदों के बीच रिक्त स्थान छोड़कर

छंद की अपनी स्वतंत्र सत्ता प्रदर्शित की गई है। एक उदाहरण से निराला की अनुवाद योजना के व्यक्त स्वरूप का परिचय मिल जाएगा।

मूल पाठ–1 :

"ओई आशे तुलाराशि शौमो,
पौरो क्खौने हेरो मोह नाग,
दैखो शींघो विकाशे बिक्रौम,
आटौ दैखो प्रोनोई जुगौल;
शेषे शौष आकाशाए मिलाये।"

अनूदित पाठ : 'कवितावली' – (शीतगुंज–2) – 2

"आती वह तुलाराशि जैसी (जैसे)
फिर बाद वही लखो महानाग,
देखो विक्रम दिखाता सिंह,
लखो युगल प्रेमियों को (,)
किंतु मिल पाते सब
अंत में आकाश में।"

उपर्युक्त पंक्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि 'हेरो, देखो, दैखे, क्रम में प्रयुक्त क्रियारूपों का अनुवाद निराला ने क्रमशः 'लखो, देखो, लखो, के रूप में दो ही क्रिया रूप रखे हैं, पर मूल के क्रम में परिवर्तन भी किया गया है। इसी प्रकार अंतिम छंद की दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'भारोत', कर दिया है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 'गीत–गुंज–2' में यह रचना शीर्षक–विहीन रूप में दी गई है। इस रचना का परिचयात्मक अंश दोनों संकलनों के अनुवाद में सम्मिलित हैं।

दूसरी प्रसिद्ध छोटी रचना स्वामी विवेकानंद का वह गीत है जो उन्होंने श्री रामकृष्ण परमहंस से पहली बार मिलने पर उन्हें सुनाया था : 'प्रोलोय वा गोमीर शौमाधि'। इस रचना का अनुवाद 'कवितावली' में 'समाधि' और गीतगुंज–2 में 'प्रलय वा समाधि' शीर्षक से किया गया है। समाधि की गहन, पूर्ण एवं एकाग्र स्थिति के द्योतक होने के साथ ही शीर्षक से 'गोमीर' के लोप से भाव अधिक व्यंजक और सार्थक बन जाता है। इस कविता के अनुवाद में निराला ने शब्द–प्रति शब्द रखने की शैली अपनाई है क्योंकि मूल की सामासिक शब्द

योजना के कारण उनके लिये यह कार्य अति सहज और आयासहीन रहा। यहां पंक्तियों की संख्या, उनकी शब्द–योजना एवं प्रस्तुति पूर्णतः मूलानुगामिनी रही है। कविता की बाह्य रूप– आकृति एवं श्लेष–शैली में, उसकी प्रस्तुति में अवश्य कुछ परितर्वन हमें मिलते हैं। स्वामी जी ने दो पंक्तियों के बाद पूर्ण विराम चिह्नों (।।) का प्रयोग किया है, पर निराला ने दो पंक्त्यिों के एक छंद के बाद एक पूर्ण विराम चिह्न (।) का प्रयोग किया है। स्वामी जी की रचना अतुकांत है जबकि निराला ने अनुवाद में 24 मात्रा के तुकान्त छंद का प्रयोग किया है। रचना के प्रथम एवं अंतिम श्लोक अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैः

मूल पाठ–1

नाही शूर्जो नाही जोति शोशांको शुन्दोर
भाशे बोमे छाया शौयो छोषी बिस्स चौरा चोर।

अनूदित पाठः 'कवितावली (गीत कुंज–2)–2

"सूर्य भी नहीं है, ज्योति–सुंदर शशांक नहीं,
छाया सा ज्योम में यह विश्व नज़र आता है।

x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x

मूल पाठ–1

शे धाराए बिद्धो हौलो, शून्ने शून्नौ मिलाइलो,
औबांड् भौनोशोगोचरम्, बोझे–प्राण बोझे जार।।

अनूदित पाठः 'कवितावली (गीत कुंज–2)–2

बंद वह धारा हुई, शून्य में मिला है शून्य
'अवाङ् मनस (ने) गोचरम्' वह जाने जो ज्ञाता है।"

स्पष्ट है कि अनुवादक के रूप में निराला ने मूल रचना की संरचना और बुनावट दोनों को ही यथावत बनाए रखने की सफल चेष्टा की है। पहली ही पंक्ति में दिया गया 'नहीं' शब्द का स्थान–परिवर्तन अथवा संस्कृत की उक्ति को उद्धरण–चिह्न के भीतर रखने जैसे जो एकाध छोटे–मोटे परिवर्तन निराला ने किए हैं उनका प्रभाव पूरी रचना के अनुवाद में नगण्य ही रहा है। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि स्वामी जी की यह रचना 'बागेश्री' (आड़ा) में निबद्ध है। (त्रिपथगा, जनवरी 1960; 'स्वामी विवेकानंद : कवि के रूप में ; लेखक श्री श्याम प्रसाद 'प्रदीप')। गीतों के प्रति निराला की अभिरूचि, स्वामी

के दर्शन–चिंतन में उनकी अगाध–एकांत–आस्था ही इस गीत के सफल अनुवाद की उत्तरदायी है।

(ii) अंग्रेज़ी कविताएं :– निराला ने स्वामी विवेकानंद की दो अंग्रेज़ी कविताओं के अनुवाद किए हैं: 'काली द मदर' और 'टु द फ़ोर्थ ऑफ़ जुलाई'। इन अनुवादों का अध्ययन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि निराला की स्वतंत्र प्रयोगधर्मी चेतना यहां भी स्पष्ट है। 'काली माता' शीर्षक अनुवाद में निराला ने स्वामी जी की कविता की मूलभूत पंक्ति योजना (≡) को बदलकर समानान्तर (=) कर दिया है, साथ ही लक्ष्य भाषा की प्रकृति के अनुरूप तथा छंद पूर्ति के आग्रह से परिचालित–प्रेरित होकर उन्हें कुछ शब्दों एवं पदबंधों में भी फेरबदल करने पड़े हैं। प्रारंभ में निराला ने 8–8 पंक्तियों की एक इकाई बनाकर उन्हें दो छंदों में रखा है। इसे विराम चिह्नों के प्रयोग द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। ऐसी योजना हमें मूल कविता में नहीं मिलती। मूल कविता की ग्यारहवीं पंक्ति 'टू रीच द पिची स्काई' को निराला ने दो पंक्तियों में रखा है:

'उठ रहे हैं कृष्ण नभ का (को)
स्पर्श करने के लिए द्रुत!"

ध्यातव्य है कि यहां एक पंक्ति बढ़ने के बावजूद निराला का दूसरा छंद सोलहवीं पंक्ति (यानी मूल की पन्द्रहवीं पंक्ति) पर समाप्त होता है। पूरी 28 पंक्तियों की रचना का अनुवाद निराला ने 29 पंक्तियों में किया है। विस्मयादिबोधक चिह्न से युक्त संबोधनपरक पंक्तियों जैसे– 'फ़ॉर टैरर इज़ दाई नेम!' तथा 'दाऊ टाइम, द ऑल–डिस्ट्रॉयर!' का अनुवाद निराला ने सामान्य कथन के रूप में अर्द्ध–विराम चिह्नों के प्रयोग के साथ किया है : 'नाम है आतंक तेरा', तथा 'समय तू है, सर्वनाशिनि,'। परन्तु यहां यह भी द्रष्टव्य है कि निराला इस दूसरी पंक्ति को अगली संबोधनात्मक पद्धति से जोड़ देते हैं और इस तरह के मूल कविता के स्वर को यथावत बनाए रखते हैं, उसकी रक्षा कर लेते हैं। इस ओर ध्यान आकृष्ट करना भी आवश्यक है कि अंग्रेज़ी में 'कैपिटल लैटर्स' के प्रयोग की की लिपि संबंधी विशेषता को प्रदर्शित करने का कोई तरीका हिंदी अनुवाद में नहीं निकाला गया है। इसी तरह 'कम, (ओ) मदर, कम' पंक्ति के अनुवाद में संबोधनपरक' 'ओ' को छोड़ दिया गया है। मूल पाठ में दी गई पाद टिप्पणी की यह सूचना भी अनुवाद में सम्मिलित नहीं की गई है कि वह रचना सितंबर 1998 में 'श्री क्षीर भवानी देवी' के दर्शन के बाद

श्रीनगर में लिखी गई थी। प्रस्तुत कविता की अंतिम पंक्तियां और उनका अनुवाद यहां प्रस्तुत है जिससे कथ्य एवं अभिव्यक्ति दोनों में मूल के निकट रहने की निराला की प्रवृत्ति का परिचय पुनः एक बार मिलता है।

मूल पाठ–1

"Who dares misery love,
And hug the form for Death,
Dance in Destroyer's-Dance,
To him the Mother comes"

अनूदित पाठः 'कवितावली (नए पत्ते)–2

"साहसी, जो चाहता है
दुःख, मिल जाना मरण से,
नाश की गति नाचता है,
मां (तू) उसी के पास आई।"

अनुवाद के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि निराला ने अपने अनुवाद में 'साहसी' संज्ञापद का प्रयोग करके मूल पाठ के अनुसार 'जो–संरचना' वाले वाक्य का प्रयोग किया है, 'दुःख' शब्द दूसरी पंक्ति में आ गया है जहां 'हग' के लिये 'मिल जाना' (क्रिया पद) रखा गया है; 'माँ' एवं 'तू' का प्रयोग अंतरंग आत्मीयता के भाव को सूचित करने वाला है। ये परितर्वन लक्ष्य भाषा की प्रकृति के अनुरूप किए गए हैं। यहां यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि 'कवितावली' और 'नए पत्ते' में दिए गए अनुवादों के पाठों में सामान्यतः कोई अंतर नहीं मिलता, सिवाय इसके कि 'नए पत्ते' के पाठ में उर्दू शब्दों को सही वर्तनी–रूप में रखा गया है। जैसे– साफ़, तरफ़ (साफ तरफ नहीं)। यह भी ध्यान देने की बात है कि 'नए पत्ते' के प्रकाशन–काल में निराला साहित्य में भी इस प्रवृत्ति की प्रमुखता स्पष्ट ही परिलक्षित होती है।

स्वामी विवेकानंद की दूसरी रचना 'टु द फ़ोर्थ ऑफ़ जुलाई' के अनुवाद में उपर्युक्त प्रवृत्तियों के साथ एक ही महत्त्वपूर्ण यह अंतर दिखाई पड़ता है कि यहां निराला ने संस्कृत निष्ठ भाषा के स्थान पर उर्दू की रवानगी युक्त भाषा के आम प्रचलित व्यावहारिक रूप को अपनाया है। स्वयं निराला साहित्य में भी भाषा का यह बदला हुआ रूप देखा जा सकता है। यही कारण है कि इस

समय किए गए अनुवादों में भी उसका प्रयोग निराला की भाषापरक प्रवृत्ति की सहजता–स्वाभाविकता का परिचायक है। उदाहरणार्थ कुछ अंश देखा जा सकता है:

मूल पाठ–1

"..... The birds in chorus sing,
The flowers raise their star-like crown.
Dew set, and wave thee welcome fair.
The lakes are opening wide in love,
Their hundred thousand lotus-eyes,
To welcome thee, Thou Lord of Light.
A welcome new to thee, today."

अनूदित पाठः 'कवितावली' (नए पत्ते)–2

"चिड़िया चहकीं, साथ फूलों के उठे
सर, –सितारे जैसे चमके ताज के–
ओस के मोती लगे, स्वागत किया
क्या तुम्हारा झूमकर, झुककर!
खुली और फैली दूर तक झीलें ख़ुशी (ख़ुशी)
जैसे, आँखें कमलों की फाड़े हुए
दर्श करती है तुम्हारा हृदय से।
कुल निछावर, ज्योति के जीवन, क्या (नया)
आज अभिनंदन तुम्हारा, धन्य है।"

स्पष्ट है कि निराला ने कविता के भाव पर ध्यान देते हुए लक्ष्य भाषा की प्रकृति के अनुरूप अनुवाद किया है। सामान्यतः निराला की अनुवाद–पद्धति शब्द–प्रति–शब्द अथवा पंक्ति–प्रति–पंक्ति अनुवाद करने की कमी नहीं रही है। प्रभाव की दृष्टि से एक पंक्ति का प्रसार दूसरी पंक्ति तक हो जाना अथवा पंक्ति को संक्षिप्त कर देना, नई पंक्तियों का समावेश अथवा उनका लोप आदि की चिंता निराला ने कभी नहीं की है। निराला के अनुवादों की सफलता सार्थकता का एक मुख्य कारण यह भी रहा है। यहां इन तथ्यों का उल्लेख कदाचित असंगत न होगा कि स्वामी जी ने इस कविता को 12+18 पंक्तियों की दो इकाईयों में रखा है, पर निराला ने अनुवाद में 32 पंक्तियों के निरन्तर

क्रम में रखने का तरीक़ा अपनाया है। पाद–टिप्पणी की यह सूचना अनुवाद में भी दी गई है कि 'अमरीकन स्वाधीनता दिवस' मनाने के लिये यह कविता 'प्रातःकालीन कलेवे के समय ज़ोर से गाए जाने की दृष्टि से 4 जुलाई 1898 को लिखी गई थी, और स्वामी विवेकानंद की महासमाधि की तिथि भी यही है, सन् 1902 है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानंद की कविताओं के निराला–कृत अनुवादों का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि विषय प्रधान दृष्टि रखकर भी निराला शैली को यथा संभव अविकल रूप में प्रस्तुत कर सके हैं। यह उनकी सृजन–प्रतिभा, चिंतन साम्यता के साथ उनके अनुवादों की सार्थकता–सफलता का भी प्रमाण है। यद्यपि साहित्यिक रचनाओं के अनुवाद के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रश्न उठाना यहां संगत नहीं होगा तथापि पुनर्सृजन की प्रक्रिया का महत एवं महत्त्वपूर्ण योगदान यहां स्पष्ट है। इन रचनाओं का एक ही अनुवाद सुलभ होना वस्तुतः निर्णय की एंकांगिता का सूचक है, परन्तु दूसरी ओर इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि अनुवाद के लिये स्त्रोत और लक्ष्य भाषा की गहरी समझ के साथ विषय का ज्ञान होना भी एक अनिवार्यता है। इसके अतिरिक्त अनुवाद किसके लिए है, किस प्रयोजन से किया गया है, ये प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। रचना की अपनी प्रकृति को ध्यान में रखना भी सफल–सार्थक–सुंदर अनुवाद के लिए अति आवश्यक है।

अंत में यही कहा जा सकता है कि किसी भी रचना–मूल अथवा अनूदित के परिवर्द्धन–संशोधन–संवर्द्धन अथवा उसके पुनर्सृजन की प्रक्रिया से गुज़रने के बाद उसके स्वतंत्र अस्तित्व का प्रश्न उपेक्षणीय नहीं रह जाता। यह भी स्मरणीय है कि कवि–कथन की अपेक्षा कृति–कथन अधिक विश्वसनीय सिद्ध होता है। अतः रचना की अपनी प्रकृति, उसका संवेद्य एंव शिल्प–रचना आदि के परिणाम की दृष्टि से अधिक प्रामाणिक माना जाना चाहिये। कृति के संस्करणगत रूपों से आगे बढ़कर यदि रचना के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रश्न अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर सका तो यह लघु प्रयास सार्थक सिद्ध होगा। इति...

परिशिष्ट – 1
आधारभूत सामग्री का पूर्ण विवरण

I. मूल रचनाएँ		
शीर्षक	**संकलन+संस्करण**	**पत्रिका**
1. उद्‌बोधन	अनामिका, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 67–69	मतवाला, संख्या 23; 12 अप्रैल 1924, पृष्ठ 593
2. दिल्ली	अनामिका, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 58–63	मतवाला, संख्या 45; 5 जुलाई 1924, पृष्ठ 877
II. अनूदित रचनाएं : बंगला–हिंदी		
मूल रचना	**अनूदित रचना, शीर्षक+संकलन**	**पत्रिका**
1. प्रौलोय वा गोभीर शौभाधि; पृष्ठ 29	(प्रलय या) समाधि, पृष्ठ 80; गीतकुंज–2, परिशिष्ट 2 (–शीर्षक) पृष्ठ 63	समन्वय; वर्ष 3, अंक 2; संवत् 1980, पृष्ठ 54–55
2. सागोर बौक्खे; पृष्ठ 42–43	सागर के वक्ष पर; पृष्ठ 82–3; गीतकुंज–2, परिशिष्ट 2 (–शीर्षक) पृष्ठ 60	समन्वय; वर्ष 8, अंक 8; संवत् 1986, पृष्ठ–
3. शौखार प्रोति; पृष्ठ 42	सखा के प्रति; पृष्ठ 63–65; अनामिका, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 170–73	समन्वय; वर्ष 6, अंक 3; संवत् 1983, पृष्ठ 264–68
4. नाचुक ताहाते श्यामा पृष्ठ 32–35	नाचे उस पर श्यामा, पृष्ठ 74–79 अनामिका; चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 107–17	समन्वय; वर्ष 3, अंक 6; संवत् 1983, पृष्ठ 264–68 मतवाला; 28 जून 1924, पृष्ठ 843

5. गाइ गीत शोनाते तोमाय; पृष्ठ 35–42	'गाता हूं गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को', पृष्ठ 66–73 अनामिका; चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 97–106	समन्वय; वर्ष 3, अंक 1; संवत् 1983, पृष्ठ 34–38 मतवाला; वर्ष 1, संख्या 40; 31 मई 1924, पृष्ठ 749 (अंतिम 30)
III. अनूदित रचनाएं : अंग्रेजी–हिंदी		
1. काली–द मदर पृष्ठ 58–59	काली माता, पृष्ठ 9 नए पत्ते (प्रथम संस्करण) पृष्ठ 83–84	देशदूत, 17 सितंबर 1944, पृष्ठ.....
2. टू द फ़ोर्थ ऑफ़ जुलाई, पृष्ठ 65–66	चौथी जुलाई के प्रति, पृष्ठ 39; नए पत्ते (प्रथम संस्करण) पृष्ठ 81–82	देशदूत, 17 सितंबर 1944, पृष्ठ.....

परिशिष्ट – 2
आधारभूत सामग्री का पूर्ण विवरण

अनामिका : **प्रथम संस्करण–1, 1937**		**चतुर्थ संस्कारण :** **रूपाकृति योजना, 1963**
(i)	आवरण के कवर पर निराला के 'तुलसीदास' की चर्चा; पीठ का इनर कवर खाली; कवर की पीठ पर 'तुलसीदास, गीतिका और निरूपमा का विज्ञापन' (मूल्य सहित)	आवरण के इनर कवर पर निराला का चित्र, परिचय पीठ के इनर कवर पर भारती भण्डार, लीडर प्रेस से प्रकाशित निराला की पुस्तकों का मूल्य सहित विज्ञापन; गीतिका, तुलसीदास, अपरा, अनामिका, आराधना, निरूपमा, सुकुल की बीवी
(ii)	कृति, कृतिकार, प्रकाशक, ग्रंथ संख्या 58, संस्करण, मूल्य– 2 रूपए चार आना; प्रकाशन तिथि संवत् 1995; मुद्रक– कृष्ण राम मेहता; लीडर प्रेस, इलाहाबाद	मूल्य– 5 रूपए; संशोधित मूल्य–6 रूपए प्रकाशन तिथि–जुलाई 1963; मुद्रक– वी.पी. ठाकुर।
(iii)	कालिदास संबंधी श्लोक एक पृष्ठ पर जिसमें 'अनामिका' बोल्डटाइप में एक पंक्ति में अलग से मुद्रित।	X
(iv)	बाईं ओर निराला का चित्र, दाईं ओर प्राक्कथन, स्थान और तिथि; लखनऊ, 20–12–37	प्राक्कथन, प्रथम संस्करण; सेठ महादेव प्रसाद का चित्र यहाँ नहीं है।
(v)	बाई ओर 'मतवाला'–संपादक का चित्र, दाई ओर समर्पण	समर्पण–प्रथम संस्करण, सेठ महादेव प्रसाद का चित्र नहीं है

(vi)	अनुक्रम– रचना के शीर्षक और पृष्ठ संख्या के साथ 56 कविताएं, पृष्ठ संख्या 194	अनुक्रम– प्रथम संस्करण पृष्ठ संख्या–समान नहीं, अंतर है। अनूदित रचनाओं की सूचना कोष्ठक में, 'सखा के प्रति' में अपवादतः सूचना नहीं 56 कविताएं, पृष्ठ 198
(vii)	दाएं पृष्ठ पर निराला की हस्तलिपि में मुद्रित गीत– 'जैसे हम हैं वैसे ही रहें'	बाईं ओर निराला का चित्र (प्रथम संस्करण) दाईं ओर हस्तलिपि में मुद्रित गीत (प्रथम संस्करण)
(viii)	पुनः दाईं ओर एक स्वतंत्र पृष्ठ पर कृति का नाम मुद्रित	X
(ix)	कविताएं पृष्ठ 1 से प्रारंभ; कविता के अंत में बाईं ओर रचना–तिथि की सूचना	पृष्ठ 1 से कविताएं प्रारंभ अंत में दाईं ओर रचना तिथि दी गई है
(x)	स्वामी विवेकानंद, कवि गुरु ठाकुर की तीन–तीन अनूदित कविताएं सम्मिलित	यथावत् (प्रथम संस्करण)

संदर्भ–ग्रंथ सूची

1. डॉक्टर अनूप कुमार : 1985 : प्रसाद की रचनाओं में संस्करणमत परिवर्तनों का अध्ययन; प्रथम संस्करण, जनवरी, हिंदी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्व विद्यालय

2. डॉक्टर कमल किशोर गोयंका+लोठार लुत्से : 1980 : प्रेमचंद और शतरंज के खिलाड़ी, प्रथम संस्करण; प्रेमचंद शताब्दी वर्ष; पूर्वोदय प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली

3. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : 1923 : अनामिका प्रथम

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : 1937 : अनामिका, प्रथम संस्करण, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : 1963 : अनामिका, चतुर्थ संस्करण, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : 1946 : नए पत्ते; प्रथमावृत्ति; हिंदुस्तानी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : 2016 : गीतगुंज–2; परिवर्द्धित संस्करण

4. स्वामी विवेकानंद : 1964 : बीरबानी; 15 वां संस्करण; विवेकानंद बंगाब्द : सोसाइटी, कलकत्ता।

स्वामी विवेकानंद : 1964 : 'कवितावली'; तृतीय परिवर्द्धित संकरण; स्वामी भास्करेश्वरानंद; श्री रामकृष्ण आश्रम, धनतोली, नागपुर

5. डॉक्टर रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव एवं कृष्ण कुमार गोस्वामी : 1985 : अनुवाद, सिद्धान्त और समस्याएं; प्रथम संस्करण, आलेख प्रकाशन, दिल्ली

पत्र–पत्रिकाएं : स्तवाला, समन्वय, देषदूतनिराला स्मृति अंक : साप्ताहिक हिंदुस्तान त्रिपथगा, जनवरी 1960 का अंक

डॉ0 विभा गुप्ता
पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्र : 9811808104

'तप्त समाधि तथा अन्य कहानियाँ'
कथ्य और परिवेश

'तप्त समाधि तथा अन्य कहानियाँ' मीरा सीकरी की अट्ठारह लघु कथाओं का संग्रह है। कथा यानि वह कहना जो मन सम्प्रेषित करना चाह रहा है और सुनने–पढ़ने वाला भी उसे ग्रहण करना चाह रहा है। कहानी के जन्म का मूल स्वरूप भी शायद यही रहा होगा। इसीलिये बचपन में बाबा–दादी, नानी–नानी से कहानी सुनते समय हुंकारा भरना ज़रूरी होता था ताकि उन्हें यह भरोसा रहे कि हम उसको सुन–गुन भी रहे हैं। तभी तो बचपन से लेकर आज तक राजा–रानी, परी–राक्षस, मन के किसी कोने में मिथक कहो, परम्परा या संस्कार कहो– सदैव जागृत रहते हैं। वही हमें समय–समय पर सत्–असत् के प्रति सचेत भी करते रहते हैं।

प्रत्येक काल में हर सजग लेखक अपनी समकालीन परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील होकर एक नयी दृष्टि, एक नयी सोच को विकसित करता रहा है। मीरा सीकरी की कहानियों में रिश्तों–नातों और सम्बन्धों के प्रति बदलती हुई दृष्टि बड़े सहज ढंग से झलकती है। 'सुखगाथा' कहानी की नायिका बाहरी संसार के लिये भले ही सुलझी, आधुनिक और शालीन रही हो पर पति की दृष्टि में तो गँवार और आउटडेटेड ही बनी रही। सुरुचि सम्पन्न व्यक्तित्व की धनी महिला की शिक्षा का केवल यही सदुपयोग हुआ कि लड़का इंजीनियर और लड़की डॉक्टर बन गयी। पर एक सवाल उसके जीवन के उत्तरार्ध में अपना सिर उठाकर बराबर पूछता रहा– दुःख काहे का? वेस्ट कहाँ हुई– बच्चे अच्छे से सैटल हो गए! यह अलग बात है कि दोनों उससे दूर अमेरिका में अपनी गृहस्थी में व्यस्त हैं।

'आत्मनिर्भर होने से आत्मविश्वास बढ़ता है' सोचने वाली यह कथानायिका 'प्राइड ऑफ दी पॉर्क – सोबरलेडी ऑफ योगासंस्थान' खिताब से नवाज़े जाने के आनन्द को भी पति की एक आवाज 'अपने से निकलो और चाय पिलाओ, बहुत मना चुकी अपनी हीरोशिप'–पर चुप शांत किचन की तरफ बढ़ जाती है। पति– जो अपने पद और पैसे के बल पर छिछोरापन करके भी आधुनिक संभ्रात कहलाता है और पत्नी को एक सुखी–सम्पन्न व्यवस्थित जीवन को ही 'सुखगाथा' कहने के लिये बाध्य करता है।

सामाजिक चिंताओं से बिल्कुल असंपृक्त न रहकर भी यह कहानियाँ व्यक्ति की पीड़ा की कहानी अधिक बन गयी हैं। कांकड़ा खोह, नज़रबंद, मुक्तिद्वार और शिकायत नहीं कहानियों में केवल कही सुनी, देखी भोगी स्थितियाँ ही चित्रित नहीं हुई हैं, बल्कि समय का बदलता स्वरूप भी प्रकट हुआ है। आज़ादी के बाद समय के लगभग सत्तर दशक होने को हैं पर विकास और आधुनिकता की रफ्तार सामाजिक परिदृश्य में कैसी है यह मैं क्यों रोऊँ, मुफ्ती माल और चाररोदकम् में स्पष्ट दीखती है। मध्यवर्ग में सामाजिक दबाव से मुक्त होने की छटपटाहट तो है पर वैसा साहस नहीं जो 'मैं क्यों रोऊँ' की नायिका उर्मिला में है। 'मुफ्तीलाल' की हल्लीमाँ भी अपनी बिरादरी के शराबी–कबाबी पारिवारिक वातावरण और दैहिक शोषण से मुक्त होने के लिये अधेड़ पापा जी से विवाह कर लेती है पर अपनी नियति को नहीं बदल पाती। पापा जी की मृत्यु के बाद उसे संपत्ति से जीवन निर्वाह का भी अवलम्ब नहीं रहता। अपनी बेटी के भविष्य की चिंता उसे सुरक्षित आश्रय की तलाश में अपनी पुरानी मालकिन के पास ले आती है। यानि जहाँ से उसने ज़िन्दगी शुरु की थी वहीं उसकी लड़की अब खड़ी हो जाती है।

'नज़रबंद' की चिरयुवती, आत्मनिर्भर, स्वाबलम्बी नायिका माँ की मृत्यु होते ही पचास साल की मैच्योर, संयत, शांत, सबके दुःख में काम आने वाली पर अपनी ही लक्ष्मण रेखाओं में क़ैद होकर रह जाती है।

समकालीन समस्याओं और जीवन संघर्षों के प्रति मीरा सीकरी की आत्मीयता इन कथाओं में सतत प्रवहमान रही है। स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की टकराहट और मूल्यों के विघटन ने आज जीवन को जटिल और बोझिल बना दिया है। 'अक्षर–सम्बन्ध' में दाम्पत्य जीवन में आई हुई दूरियों को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है। सेवानिवृत्ति को लेकर नायिका की आशंकाएँ उसके निजी जीवन के त्रासद अनुभवों का भी व्यंजित करती हैं। लाख नकारने पर भी स्त्री के जीवन से परिवार की भूमिका ओझल नहीं हो पाती। तभी तो वो कहती है–

यूँ बाहर से सब कुछ सामान्य ढंग से चल रहा था पर भीतर कभी निजी स्वाभिमान अकेले रहने की ज़िद पकड़ता तो कभी पति और बच्चे के अकेले रहने पर अपराध बोध से ग्रस्त हो जाता। हाँ, पर कॉलेज पहुँच सब कुछ भूल, लगता कि अपने स्व में हूँ, अपनी ज़मीन पर हूँ। किंतु कॉलेज से लौटने पर निजी घोंसले की कमी मुझे उदास कर देती।'

और इसलिये रिटायर होना, कॉलेज का छूटना, उसके एकाकीपन को सघन बनाता गया। पर सम्बन्ध जो कॉलेज की इमारत, उसकी दीवारों, कक्षाओं में की जाने वाली विवेचनाओं और उसमें बिताए कालखंड से था, वह कैसे छूटता। आखिर छत्तीस वर्षों के जीवन क्रम को कॉलेज ने देखा था, इसी से जड़ होकर भी वह चेतन–अक्षर सम्बन्ध बन गया था।

सच तो यह है कि कहानी अपने अनुभवों का ही विस्तार होती है इसलिये जाने–अनजाने उसमें लेखक का व्यक्तित्व भी प्रतिफलित होता है। मीरा सीकरी की कहानियों में शिक्षण संस्थानों और प्राध्यापक जीवन की उठापठक बड़े सहज–प्रकृत ढंग से अभिव्यक्त हुई है।

आज जिस तेज़ी से सामाजिक आर्थिक परिवेश में परिवर्तन हुआ है उसमें तकरीबन सारे रिश्तों में एक टूटन–दरकन की दस्तक सुनाई देने लगी है। पारिवारिक सम्बन्धों की ऊष्मा के स्थान पर निजता हावी होने लगी है। पालतू पिल्ला, अब मैं जानी कि, और कोई बात नहीं कहानियों में ग्लोबलाइजेशन की दौड़ में पिछड़ गयी पीढ़ियों का अवसाद, संशय और किंकर्त्तव्य विमूढ़ स्थिति का सजीव चित्रांकन हुआ है। यह सच है कि मीरा सीकरी की कहानियाँ अधिकांशतः नारी केंद्रित हैं पर उनकी यह कथा नायिकाएँ स्वर्गलोक से उतरी देवी नहीं हैं। वह दया, करूणा, ममता आदि गुणों के होने पर भी हाड़ माँस की मानवी हैं। सहते जाना ही उनकी नियति नहीं है। बेवड़ाई दोस्ती की दोनों माँए अपने–अपने ढंग से अपने पुत्रों के व्यक्तित्व निर्माण में सक्रिय रही हैं। किले की विभक्त खंडों की परछाईयाँ की चारो सहेलियाँ तो जीवन की उतराई को भी पूरी ललक के साथ जीने को उतावली हैं। वयः सन्धि बेला चाहे 15–16 साल की हो या 55–60 बरस की मन की उमंगों का वेग आन्दोलित करने वाली ही होती है। भले ही शारीरिक क्षीणता उस उद्दाम आवेग पर अंकुश लगाती रहे। परिवार के सुख–दुःख की गुंजलकों से मुक्त होकर सहेलियों में अपने को मिलने–बाँटने की हिलोर उठती ही है।

आज हमारा ब्याह में प्रेम और विवाह सम्बन्धी एक नयी दृष्टि दिखाई देती है। आज की यांत्रिक जीवन शैली में मृत्यु भी लोगों को आपस में मिलने–जुलने वाले पलों को मज़ा देने वाली बन जाती है, इसी का सजीव व्यंग्यात्मक आलेखन 'पिकनिक' कहानी में हुआ है। शोकग्रस्त परिवार के दुःख में साझीदार होने का अर्थ बस शमशान घाट तक जाना और शांति पाठ में

शामिल होना भर रह गया है। यानि आज हम मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार कर शोक–भय से मुक्त हो चुके हैं। यह भी हमारे आधुनिक जीवन की विकसित मनोदशा का परिचायक है। मूल कथ्य मृत्यु होते हुए भी पिकनिक और 'तप्त समाधि' का परिवेश और संवेदना नितान्त भिन्न है।

'तत्प समाधि' एक युवा पुत्र की असामयिक मृत्यु का आघात झेलने में बिखर–बिखर जाने वाले माता–पिता की असहनीय पीड़ा की शोक–गाथा है। नौकरी पर जाने से पहले स्वच्छन्द छात्र जीवन के उल्लास को आत्मसात करने की चाह रखने वाले विभु को व्यास नदी ने ही आत्मसात कर लिया। माँ की मनुहार को अपने तर्कों से निरस्त करने वाला विभु भी भावी दुर्घटना से अनजान था। वह नहीं जानता था कि उसका जाना माँ–बाप को कितना रीता कर जाएगा। ऐसी भीषण–दारुण सूचना पाने से लेकर उसके न मिल पाने की निश्चयात्मक स्वीकृति को माता–पिता ने कैसे झेला, पल–पल को विकराल युगों में बदलते भोगा– इसी का मार्मिक अंकन 'तत्प समाधि' में हुआ है। अपने आत्मबल को समेटती, शुभ की आकांक्षा करती, घटित को अघटित मानती, आँसू गटकती माँ का तो शेष जीवन 'तप्त समाधि' ही बन कर रह गया। समाधि का विग्रह करें तो सम+आधि यानि रोग–शोक में सम रहना... पर यहाँ तो वह सम निरंतर अंतर में तपते हुए भी बाहर सम ही बना रहा।

कुल मिलाकर 'तप्त समाधि तथा अन्य कहानियाँ' संकलन अपने कथ्य और परिवेश को बड़ी ईमानदारी से व्यंजित करता है। यौवन के उल्लास से भरपूर एक तरूण का मित्रों संग पिकनिक पर जाना और उफनती व्यास नदी में गुम हो जाना 'तप्त समाधि' की घटना है। पर उस बिछुड़न की यंत्रणा उसकी मूल संवेदना है। और संवेदना का यह तार पहली कहानी से लेकर अंतिम कहानी तक निरंतर बना रहा है। 'कोई बात नहीं' के माँ–बेटे के द्वन्द–स्वीकार और अस्वीकार–में भी यही संवेदना झलकती है। मीरा सीकरी ने संवेदना के तार को बखूबी सम्प्रेषित भी किया है। सम्प्रेषण– यानि अपने अनुभव को साझा करना – सूरज का ताप, फूलों की महक, हवा की सिहरन, आज की मौजूदगी और कल का अंदाज़... यह सब हमारे अनुभव ही हैं, जो हमारी सोच और व्यक्तित्व से गुज़रते हुए लेखन में प्रतिफलित होने लगते हैं। इसीलिये अक्सर कहानियों को पढ़ते समय हमें वह स्थान, परिवेश–चरित्र बड़ा जाना पहचाना लगने लगता है। कुछ अनुभव होते हैं जो चौंका जाते हैं। या तो उनका कहने

वाला बहुत संवेदनशील होता है या फिर सुनने वाले के अहसास का कोई सुर वह तजुर्बा झनझना देता है। बस बात इतनी सी है कि तजुर्बों के खजाने का जो अन्दाज़े बयाँ हो वह आप में ऐसी ललक पैदा कर दे कि शुरु से अंत तक आप उसके साथ जुड़े रहें, मानो यह आपका अपना ही अनुभव हो। और यही इस संग्रह की कहानियों ने किया है।

श्रीमती सरोज सक्सैना
पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
सम्पर्क सूत्र : 9910544551

मानव अधिकार और उपभोक्ता

नवीन प्रौद्योगिकी एवं औद्योगिक विकास से युक्त वाणिज्यिक संस्कृति में उपभोक्ताओं की स्थिति में मौलिक परिवर्तन तो ला दिया है पर फिर भी हम देखते हैं कि आज के उपभोक्ताओं को विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है जैसे कि वस्तुओं का अपमिश्रण, निकृष्ट गुणवत्ता, अनुचित माप, सेवा एवं उपभोक्ताओं के प्रति शिष्टाचार में कमी तथा भ्रामक विज्ञापन आदि। उपभोक्ता के अधिकारों का हनन ही नहीं होता है अपितु उसके मानव अधिकारों का भी शोषण होता है।

हमारे भारत में उपभोक्ता की स्थिति अत्यधिक दयनीय है। भारतीय उपभोक्ता धैर्य और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति है। वह भाग्यवादी है। त्रुटिपूर्ण माल की खरीद और प्रदान की गई सेवा में कमी के लिये वह भाग्य को दोषी ठहराने में अधिक विश्वास रखता है या उसे पूर्वजन्म के पाप का फल मान लेता है। एक लंबे समय से उपभोक्ता बड़ी कम्पनियों द्वारा ठगी का शिकार होता रहा है। 'बिका हुआ माल वापिस नहीं होगा', इस प्रकार की अनैतिक, अवैध और एकपक्षीय विक्रेता द्वारा घोषणा है। जबकि विकासशील देशों में जहाँ उपभोक्ता अपने अधिकारों के लिये जागरुक है वहाँ विक्रेता द्वारा ऐसा कहा जाता है कि "यदि आप हमारे सामान से सन्तुष्ट नहीं हैं तो आप उसे हमारे पास एक माह के अंदर बदलने के लिये या अपना पैसा वापिस लेने के लिये आ सकते हैं। यह विकसित देशों में उपभोक्ताओं की जागरुकता के स्तर को स्पष्ट करता है। भारत में उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 उपभोक्ता की सम्प्रभुता को वैधानिक मान्यता प्रदान करता है। जिसमें उपभोक्ताओं के हितों के श्रेष्ठतर संरक्षण के लिये उपभोक्ता परिषदों की तथा उपभोक्ताओं के विवादों का निपटारा हेतु प्रतितोष अभिकरण की स्थापना का उपबंध किया गया है। अधिनियम न सिर्फ उपभोक्ता अधिकारों को निर्दिष्ट करता है बल्कि हानि या क्षति की दशा में उचित अनुतोष तथा प्रतितोष की भी व्यवस्था की गई है।

उपभोक्ता आन्दोलन का उद्‌भव एवं विकास

उपभोक्तावाद की धारणा उतनी ही प्राचीन है जितनी बाज़ार व्यवस्था। तकनीकी विकास, आय और शैक्षणिक स्तर में निरन्तर वृद्धि, उत्पादों में विविधता, विपणन गतिविधियों में बारीकी और संसाधनों एवं आवश्यक वस्तुओं में

कमी ने उपभोक्ता आन्दोलन को अपरिहार्य बना दिया है। विश्व में विकसित देश जैसे अमेरिका, जापान, इंग्लैंड एवं यूरोप में उपभोक्ता हितों के प्रति जागरुकता का कारण उपभोक्ता आंदोलन की सशक्तता है जबकि अविकसित एवं विकासशील देशों में उनकी कुछ मूलभूत सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं जैसे निर्धनता, अशिक्षा, क्रय शक्ति में कमी और उपभोक्ता अधिकारों के बारे में अज्ञानता आदि है।

उपभोक्ता आन्दोलन का वर्तमान स्वरूप उन्नीसवीं सदी के अत्तरार्ध में सरकारों द्वारा उठाये गये कदम तथा समाज सुधारकों विशेषकर उपभोक्तावादियों के प्रयास ने उपभोक्ता आन्दोलन को तीव्र गति प्रदान की है। उपभोक्ता आन्दोलन के प्रति जनमत तैयार करने का श्रेय राल्फ नाडर को जाता है जिनकी किताब "Unsafe at Any Speed" ने मोटरकार एवं टायर के निर्माताओं एवं व्यापारियों के विरुद्ध एकाकी संघर्ष आरम्भ किया। इसके बाद अमेरिका में उपभोक्ता कल्याण संगठनों का विकास हुआ। अन्य देश जैसे बेल्जियम, इटली, स्वीडन, डेनमार्क, नीदरलैण्ड, नार्वे, पोलैण्ड, आदि में भी उपभोक्ता आंदोलन का सूत्रपात हुआ।

अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री जान एफ केनेडी ने 15 मार्च 1962 को उपभोक्तावाद की महत्ता पर ज़ोर देते हुए कांग्रेस के समक्ष कंज्यूमर्स बिल ऑफ राइट्स को रूपरेखा प्रस्तुत की। बिल ऑफ राइट्स में निम्नलिखित उपभोक्ता अधिकारों की आवश्यकता पर बल दिया गया था :–

1. सुरक्षा का अधिकार
2. सूचित किये जाने का अधिकार
3. चुनने का अधिकार
4. सुने जाने का अधिकार

9 अप्रैल 1985 को संयुक्त राष्ट्र ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपभोक्ता नीति के विकास के लिए मार्गदर्शक सिद्धांतों का विकास हुआ जो उपभोक्ता आंदोलन की महत्वपूर्ण सफलता है। संयुक्त राष्ट्र ने उपभोक्ता अधिकारों में चार और अधिकारों को सम्मिलित कर दिया:–

1. क्षतिपूर्ति का अधिकार

2. उपभोक्ता शिक्षा का अधिकार
3. स्वस्थ पर्यावरण का अधिकार
4. आवश्यकताओं का अधिकार

भारत में उपभोक्ता आन्दोलन

भारत में उपभोक्ता संरक्षण की नीति नई नहीं है। वैदिककालीन साहित्य, स्मृतियों, महाभारत तथा कौटिल्य की पुस्तक 'अर्थ शास्त्र' में भी इसका उल्लेख मिलता है। जहाँ उचित मूल्य, स्पष्ट बाट एवं माप और उचित व्यापारिक लेन–देन के सम्बन्ध में उपभोक्ता हितों का संरक्षण सर्वोपरि माना गया है। सरकार उपभोक्ता हितों की संरक्षक है और विभिन्न कानूनों द्वारा उपभोक्ताओं के अधिकारों का संरक्षण किया जाता है। 24 दिसम्बर 1986 को उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम पारित हुआ। भारत सरकार ने इस दिन को 'राष्ट्रीय उपभोक्ता दिवस' के रूप में मनाये जाने का निर्णय लिया है।

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986

यह अधिनियम उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा का श्रेष्ठतर कदम है। यह अधि ानियम सभी की धारा 2 (1) (घ) के अनुसार उपभोक्ता का तात्पर्य किसी भी ऐसे व्यक्ति से है जो किसी ऐसे प्रतिफल के लिये सामान खरीदता है, जिसका भुगतान कर दिया गया है या भुगतान करने का वायदा किया गया है। किसी ऐसे प्रतिफल के लिए सेवाएं किराए पर लेता है या प्राप्त करता है जिसका भुगतान कर दिया गया है या भुगतान का वायदा किया गया है या आंशिक भुगतान कर दिया गया है। इस प्रकार उपभोक्ताओं में निम्नलिखित व्यक्ति शामिल हैं :

1. सामान का क्रेता या सामान का खरीदार
2. सामान का उपयोगकर्ता
3. सेवाएँ किराए पर लेने वाला व्यक्ति
4. सेवाओं का लाभग्राही

अतः पुनः बिक्री के लिए सामान या सेवाएं खरीदने वाला व्यापारी या व्यवसायी 'उपभोक्ता' नहीं है। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम में किए गए संशोधन के

अनुसार 2002 में ऐसे व्यक्तियों को उपभोक्ता की परिभाषा से निकाल दिया गया है, जो वाणिज्यिक उद्देश्य के लिए सामान या सेवाएं खरीदते हैं। तथापि वाणिज्यिक उद्देश्य में निम्नलिखित शामिल नहीं हैं :–

- यदि कोई व्यक्ति या परिवार, व्यवसायिक इस्तेमाल के लिए सामान खरीदता है तो उसे 'उपभोक्ता' माना जायेगा।
- स्वः नियोजन के साधन द्वारा आजीविका अर्जित करने के उद्देश्य के लिये ली गई सेवाएँ।
- अधिनियम के अन्तर्गत उपभोक्ता विवादों के शीघ्र निस्तारण एवं प्रतितोष देने के लिये ज़िला, राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर अर्ध न्यायिक प्रतितोष अभिकरणों की स्थापना की गयी है। इस अधिनियम के अन्य उपबंधों के अन्तर्गत ज़िला फोरम ऐसे विवादों का निपटारा करेगी जहाँ प्रतिकर का मूल्य बीस लाख रूपये से अधिक नहीं होता। राज्य आयोग 20 लाख से 1 करोड़ तक के परिवादों को हल करती है तथा 1 करोड़ से ऊपर के मामलों की सुनवाई राष्ट्रीय आयोग द्वारा की जाती है। जिला फोरम के आदेश से अगर कोई व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं है तो वह राज्य आयोग में अपील दायर कर सकता है तथा अगर वह राज्य आयोग से भी असन्तुष्ट है तो राष्ट्रीय आयोग द्वारा दिये गये आदेश के विरुद्ध अपील के लिये उच्चतम न्यायालय में जा सकता है। 2010 तक 33 लाख केस उपभोक्ता अदालतों में दायर हुए जिसमें से लगभग 90 प्रतिशत सुलझाए गए हैं।

मानव अधिकार और उपभोक्ता अधिकार

जब–जब बड़ी कंपनियाँ अधिक मुनाफा कमाने हेतु चालू माल या नकली माल बेचती हैं, या सेवाएँ जैसे चिकित्सा, बैंकिंग बीमा, डाक सेवा, रेलवे, हवाई यात्रा में कमी करती हैं तो व्यक्ति के उपभोक्ता अधिकार का ही नहीं बल्कि उसके मानवीय अधिकार का भी हनन होता है। कई बार लोग विज्ञापनों के बहकावे में आकर बिना सोचे–समझे बैंक लोन, क्रेडिट कॉर्ड, डेबिट कॉर्ड इत्यादि ले लेते हैं और बाद में उन बैंकों और ऋण देने वाली कंपनियों के चंगुल में फंस जाते हैं। कई किस्से सामने आए हैं जहाँ पर बैंकों ने रूपये वसूली के लिए लोगों के घर गुंडों को भी भेजा है, जो कानूनी गलत है। इसी कर्ज़ में डूबे लोगों ने ऋण न उतार पाने की हालत में आत्महत्या भी की है। इसीलिये

उपभोक्ताओं को अपने अधिकारों के प्रति जागरुक होने की ज़रूरत है। अधिकारों के अन्तर्गत निम्नलिखित उपभोक्ता अधिकारों का उल्लेख किया गया है जिसका संरक्षण एवं संवर्धन अधिनियम का मुख्य उद्देश्य है :–

1. **सुरक्षा का अधिकार** : उपभोक्ता जीवन एवं सम्पति के लिए हानिकर एवं खतरनाक माल एवं सेवाओं के विपणन के सम्बन्ध में सुरक्षा का अधिकार रखता है।

2. **सूचना का अधिकार** : माल या सेवाओं की गुणवत्ता, मात्रा, वज़न और कीमत के बारे में उत्पादक द्वारा सूचित किये जाने का अधिकार प्राप्त है ताकि अनुचित व्यापारिक व्यवहार से उपभोक्ताओं को सुरक्षा दी जा सके।

3. **चुनने का अधिकार** : जहाँ कहीं संभव हो, प्रतियोगितात्मक कीमत पर सामान और सेवाओं की किस्म उपभोक्ता प्राप्त कर सकता है।

4. **सुनवाई का अधिकार** : उपभोक्ता की शिकायतों की सुनवाई तथा प्रतितोष प्राप्ति के लिए उपयुक्त फोरमों का संगठन किया गया है।

5. **शिकायत निवारण प्राप्त करने का अधिकार** : अनुचित या प्रतिरोधात्मक व्यापार पद्धति के प्रति शोषण के प्रति उपभोक्ता कानूनी निवारण प्राप्त कर सकता है।

6. **शिक्षा का अधिकार** : उपभोक्ता आंदोलन की सार्थकता उपभोक्ता शिक्षा के अधिकार पर निर्भर करती है। जब तक उपभोक्ताओं को अपने हितों के बारे में बोध नहीं होगा, आंदोलन दिशाहीन तथा व्यर्थ होगा।

विकासशील देशों के लिये दो महत्त्वपूर्ण अधिकार जोड़ दिए गए हैं जो निम्नलिखित हैं'–

- मौलिक आवश्यकताओं का अधिकार
- एक स्वस्थ और स्थायी पर्यावरण का अधिकार

भारत सरकार ने उपभोक्ता की दिन–प्रतिदिन की समस्याओं पर ध्यान आकर्षित करने के लिये 'जागो ग्राहक जागो' नामक एक विस्तृत अभियान आरम्भ किया है। राष्ट्रीय उपभोक्ता हेल्पलाइन भी चलाई जा रही है जो पूरे देश से उपभोक्ता की शिकायतें सुनती है। इसका टोलमुक्त नम्बर है 1800–11–4000 जिसे सोमवार से शनिवार प्रातः 9:30 बजे से सांय 5:30 बजे के बीच बी.एस.एन.एल./एम.टी.एन.एल. से मिलाया जा सकता है। यह उत्पादों और सेवाओं के एक विस्तृत रेंज में वैकल्पिक विवाद निपटान पद्धति के बारे में सूचना और परामर्श उपलब्ध कराती है।

निष्कर्ष :– 'केवट एम्पटर' अर्थात् उत्पादों के बारे में क्रेता को सावधान रहने की आवश्यकता है की रणनीति के स्थान पर अब 'केवट वेंडीटर' अर्थात् विक्रेता या विपणनकर्ता को उपभोक्ता की आवश्यकताओं के बारे में जानकारी रखने की आवश्यकता है। विपणनकर्ता केवल तभी सफल रह सकता है जब उपभोक्ता उसके उत्पादों को खरीदें। नैतिकतापूर्ण खपत पूरे विश्व में उपभोक्ताओं और व्यवसायियों के लिये एक वास्तविकता बन गई है। खरीद सम्बन्धी प्रत्येक निर्णय का पर्यावरण उपभोक्ता के स्वास्थ्य और ऐसे वर्करों पर प्रभाव पड़ता है, जो उत्पादों का विनिर्माण करते हैं। कम्पनियों को उपभोक्ताओं के साथ दीर्घकालिक सम्बन्ध बनाने की कुंजी, श्रेष्ठ ग्राहक मूल्य और संतुष्टि सृजित करनी चाहिये। इस प्रकार जिस बात की अब आवश्यकता है, वह है एक गतिशील उपभोक्ता आंदोलन, जो लोगों के बहुत निकट है और गरीब लोगों, महिलाओं और ग्रामीण लोगों के लिए अनुकूल हो। जैसा कि महात्मा गांधी ने कहा था, "उपभोक्ता या ग्राहक हमारे पास आने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण आगन्तुक है। वह हमारे ऊपर निर्भर नहीं है, हम उस पर निर्भर हैं। वह हमारे व्यवसाय में बाहरी व्यक्ति नहीं है बल्कि हमारे व्यवसाय का हिस्सा है। हम उसकी सेवा करके उन पर अहसान नहीं कर रहे बल्कि वह हमें सेवा का अवसर देकर हम पर अहसान कर रहा है।"

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. एस.के. सिंह, उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी 2005।
2. राज्यलक्ष्मी राव, कन्ज़्यूमर इज़ किंग, युनिवर्सल लॉ एजेन्सी 2009।
3. शीतल कपूर, उपभोक्ता और बाज़ार, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान 2007।
4. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम ब्रैर एक्ट, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी 2012।
5. इन्द्रजीत सिंह, उपभोक्ता संरक्षण विधि, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स 2008।

डॉ. शीतल कपूर
एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्र : 9810751903
ईमेल : sheetal_kpr@hotmail.com

'हिन्दी दलित साहित्य में राष्ट्रीय एकता के स्वर'

आज दलित साहित्य से सभी परिचित हैं। साहित्य जगत में इसने अपनी सशक्त दस्तक दी है। पिछले 20–25 वर्षो से दलित शब्द और दलित साहित्य की अवधारणा पर पर्याप्त बहस होती रही है। सहानुभूति और अनुभूति को लेकर भी खूब चर्चा हुई है। इसलिए मैं दलित साहित्य की अवधारणा पर बात न करके सीधे दलित साहित्य में राष्ट्रीय एकता पर केन्द्रित रह कर बात करना चाहूंगी। मैं हिन्दी क्षेत्र की होने के कारण हिन्दी दलित साहित्य पर ही बात करूंगी, क्योंकि यही मेरे अध्ययन के अधिकार क्षेत्र में आता है।

इसके अलावा मुझे लगता है कि दलित साहित्य पर बात करने से पूर्व राष्ट्र और राष्ट्रीयता पर संक्षेप में कुछ चर्चा करनी चाहिए। राष्ट्र और राष्ट्रीयता भी ऐसे व्यापक और विश्व बोधक शब्द हैं जिनका एक लम्बा इतिहास रहा है। इसे अनेक विद्वानों ने अपनी–अपनी तरह से परिभाषित किया है। कुछ विद्वान राष्ट्र और राष्ट्रीयता का उद्‌भव अठाहरवीं शताब्दी में हुआ मानते हैं तो कुछ भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसकी जड़े हिन्दू धर्म के आदिग्रंथ वेदों से जोड़ते हैं। राष्ट्रवाद के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान हान्स कोह्न का मानना है कि ''राष्ट्रीयता एक ऐतिहासिक तथ्य है जिसका स्वरूप प्रत्येक राष्ट्र की राजनीतिक, विचारधारा और सामाजिक संगठन से निर्धारित होती है।''[1] इसके अलावा राष्ट्र के संबंध में भारतीय विद्वान डॉ. सुधीन्द्र का मत इस प्रकार है– ''भूमि अर्थात् भौगोलिक एकता, जन (भूमिवासी) अर्थात् जनगण की राजनैतिक एकता और जन संस्कृति अर्थात् सांस्कृतिक एकता– तीनों के समुच्चय का नाम राष्ट्र है।''[2] यहां राष्ट्र से स्पष्ट आशय यह लिया जा रहा है कि भूमि, जनता द्वारा चयनित राजनैतिक एकता और जनता के बीच सांस्कृतिक रूप से एक भाव होकर संगठित होना है। राष्ट्रीयता शब्द से भावनात्मक एकता का संचार भी होता है। राष्ट्र के बारे में कुछ अधिक दृष्टिपात के साथ डॉ. भीमराव अम्बेडकर कहते हैं कि ''राष्ट्रीयता एक सामाजिक सोच है। यह एकत्व की एक समन्वित भावना की अनुभूति है, जो अनुभूति जगाती है कि वे एक ही तरूवर के फूल हैं। यह राष्ट्रीय अनुभूति एक दुधारी अनुभूति है। यह जहां अपने प्रियजन नहीं हैं, उनके प्रति अपनत्व–विरोधी अनुभूति भी है। यह एक प्रकार के बोध की अनुभूति है, जो एक ओर जिनमें यह है, उन्हें एकता के इतने मजबूत सूत्र में बांधती है कि आर्थिक विभिन्नताओं अथवा सामाजिक वर्गीकरण से उद्‌भूत सभी मतभेदों पर विजय पा जाती है। दूसरी ओर यह उन लोगों से अलग भी करती है जो उनके

जैसे नहीं हैं। यह किसी अन्य समूह से संबद्ध नहीं होने का भावबोध भी जगाती है। यही राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय भावना का सार–तत्व है।''[3] इस प्रकार राष्ट्रीय भावना का सार डॉ. अम्बेडकर ने बहुत ही स्पष्ट रूप में रख दिया है। भारत जैसे देश में राष्ट्रीयता को इससे अच्छी तरह समझना असंभव है। राष्ट्रीयता हमें अपनत्व का, एकता का, समानता का बोध भी सिखाती है क्योंकि इसी बोध ा में राष्ट्र की मजबूती छिपी हुई है। मगर राष्ट्रीयता वह भी है, जो राष्ट्र के कमजोर रह गए पक्षों पर राष्ट्र की मजबूती बनाए रखने के लिए बात की जाए। जिस प्रकार किसी परिवार के एक या दो सदस्य का किन्हीं कारणों से सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक इत्यादि रूप से पिछड़ गए हों तो परिवार के मुखिया और समर्थ सदस्यों की यह जिम्मेदारी बनती है कि उस परिवार की मजबूती और उसके विकास के लिए उन सभी पीछे रह गए लोगों की तरफ ध्यान दिया जाए और उनकी कमजोरियों को दूर करके परिवार की मजबूती एकता और विकास की ओर उन्मुख हुआ जाए। तभी तो सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने 'भिक्षुक', 'तोड़ती पत्थर', कुकुरमुत्ता' और 'दाता–भाग्य विध ाता' इत्यादि कविताओं में दलितों, दुखियों का पक्ष लिया है और 'चतुरी चमार' कहानी में अंग्रेजी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत देश के लोगों की सामाजिक और आर्थिक दुर्दशा का चित्र खींचा था।

भारत बहुधर्मीय, बहुजातीय प्रधान देश है पर यहां सभी जातियों को विकास के समान अवसर नहीं मिले। शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करती है। मगर यह कैसा दुर्भाग्य रहा है इस देश का, जिस देश में एक ओर गुरूकुल जैसे विद्यालय थे तो दूसरी ओर शूद्रों और अछूतों के लिए शिक्षा के द्वार बंद कर दिए गए थे। अंग्रेजी राज्य में ही ज्योतिबा फुले ने शूद्रों को संबोधित करते हुए लिखा था–

''विद्या के अभाव से मती नष्ट हुई/मती के अभाव से नीति नष्ट हुई/नीति के अभाव से गति नष्ट हुई/गति के अभाव से वित्त नष्ट हुआ/ वित्त के अभाव से शूद्रों का पतन हुआ।'' महात्मा फुले की ये पंक्तियां सर्वाधिक प्रचलित हैं। ये आज भी इस वर्ग में चेतना का संचार करती हैं। शिक्षा के बिना किसी भी राष्ट्र का संतुलित विकास संभव नहीं है। जहां आज शिक्षा का निजीकरण हो गया है और शिक्षा बाजार की वस्तु बन गई है। ऐसे संकट काल में ये पंक्तियां और भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। दलित समाज शिक्षा के अभाव के कारण गुलाम बना तो 1912 में स्वामी अछूतानंद कानपुर से लेकर दिल्ली और आगरा तक विभिन्न स्थानों पर **'आदि हिन्दू'** आन्दोलन चलाया। उसी समय उन्होंने

'आदि हिन्दू' अखबार भी निकाला था। इस अखबार के माध्यम से वे जनचेतना का कार्य बखूबी कर रहे थे। वे हिन्दी के कवि, पत्रकार और नाटककार भी थे। उन्होंने अपनी कविताओं में अछूतों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत करते हुए लिखा था–

''जहां तुम करते बूदों वास, है यह देश तुम्हारा खास/देखो जरा खोल इतिहास, दस्यु आर्यो का युद्ध निकालो।'' वे एक अन्य स्थान पर लिखते हैं–

''यदि खून में कुछ जोश हो/ओ बेहोश कौमो जो होश हो/तो क्यों पड़े खामोश हो/जागो बहुत बरबाद हो/

.....सोते तुम्हें मुदद्त हुई/तज नींद अब तो जागिए/हज्म होते वंश अपने को/तो जल्द बचाइए।''[4] ये पंक्तियां दलितों में जोश जगाती हैं। उन्हें सचेत करतीं हैं, जो अपने ही मुल्क में अपने ही देशवासियों के गुलाम थे अछूत। स्वामी अछूतानंद गुलामी के विरूद्ध मुक्ति का आह्वान कर रहे थे। दूसरी ओर अछूतों के साथ वे शूद्रों को भी जगा रहे थे। 6–7 अक्टूबर 1928 को आदि हिन्दू कॉन्फ्रेस में उन्होंने अपने भाषण की शुरूआत निम्न ओजस्वी पंक्तियों से की थी–

''शूद्रों गुलाम रहते, सदियां गुजर गईं हैं/जुल्मों सितम को सहते, सदियां गुजर गई हैं/अब तो जरा विचारो, सदियां गुजर गईं हैं/अपनी दशा सुधारो, सदियां गुजर गईं हैं।''[5]

आजादी के बाद संविधान में सबको विकास के अवसर तो दिए मगर गैरबराबरी की दीवार अभी भी देश में खड़ी है। इसके कारण एक नहीं अनेक हैं। इससे राष्ट्र का ही अहित हुआ है। दलित साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से जब वर्ण आधारित जातीय समाज की भर्त्सना करते हैं। उस समय वे किसी एक व्यक्ति और समाज के साथ हो रहे अन्याय उत्पीड़न की बात नहीं कर रहे होते हैं। उनकी चिंता के केन्द्र में राष्ट्रीयता का बोध भी छिपा होता है। वे न केवल अपने राष्ट्र की मजबूती की बात करते हैं बल्कि अमन–चैन की बात भी करते हैं। ऐसा करते हुए वे तो विश्व भर में अमन–चैन और खुशहाली की कामना करते हैं। राष्ट्र भाव की परंपरा स्वातंत्र्योत्तर काल में हमारे पास तक आई है। सुप्रिसिद्ध कवि एवं कथाकार श्यौराज सिंह बेचैन 'नई फसल कुछ अन्य कविताएं' में कविता संग्रह वे अपनी **'विश्व की वसुन्धरा सुहागिनी बनी रहे'** शीर्षक कविता में लिखते हैं– ''गगन में सूर्य–चन्द्र/और चांदनी बनी

रहे/चमन बना रहे/चमन की स्वामिनी बनी रहे/कोयलों के/कंठ की माधुरी बनी रहे/तरू सरस रहें, न पात टूट भू गहें।/कली–कली/की गोद, नित सुगन्ध से भरी रहे।/ये गिरि–/शिखर बने रहें, ये सुरसुरी बनी रहे/भंवर को/चीरती चली, प्रगति 'तरी' बनी रहे।/छूतछात/जातिभेद की प्रथा नहीं रहे/लोकतंत्र/हो सजीव,/मनुकथा नहीं रहे/गरज ये कि/तृतीय विश्व युद्ध नहीं चाहिए/ विश्व की –/वसुन्धरा सुहागिनी बनी रहे।/हवा सुचैन/ शान्ति की सदा सुहावनी रहे।/नहीं रहे तो/देश की दरिद्रता नहीं रहे/चमन बना रहे/चमन की स्वामिनी बनी रहे।''[6] यहां कवि ने राष्ट्र के हित में बहुत ही सुन्दर कामनाएं की हैं। उनकी ये पंक्तियां ऐसे विकट समय में और भी सारगर्भित हो जाती हैं जब विश्व में हिंसा और आंतकवाद का तांडव हो रहा हो। अपने राष्ट्र की मजबूती के लिए जातिभेद और गरीबी जैसे संकटों से लड़ कर देश में एकता और शान्ति की कामना करना महत्वपूर्ण है। साथ ही मित्र राष्ट्रों में भी अमन–चैन की कामना करना सुखद है। विश्व की वसुन्धरा को सुहागिनी का विशेषण देना और उसका मानवीकरण से कविता का अर्थबोध गहरा हुआ है, और दलित साहित्य राष्ट्रीय सरोकार से भर गया है।

इसी तरह सुपरिचित दलित चिंतक एवं कवि डॉ. धर्मवीर **'भारत का मोहन चमार'** शीर्षक अपनी कविता में सीधे–सीधे भारत राष्ट्र को संबोधित करते हुए लिखते हैं– ''वह भारत का मोहन चमार है/बत्तीसी बाहर को और आंखे भीतर को/ सिर सिद्ध किया हुआ शमशान,/ पूरा शरीर नर– कंकाल/ चलता–फिरता अस्थियों का अजायबघर/ छुआ–छूत का विज्ञापन,/ बोलता–चलता, निध र्निता का प्रचार।''[7] यहां कवि ने बहुत ही खूबसूरती से सरल शब्दों में भारतीय समाज के एक ऐसी जाति की जीवन स्थितियों का चित्रांकन इस कविता में किया है जिसमें दलित जाति के कारण वह गरीबी के मारक झेलने को अभिशप्त है। कविता में बड़ा ही मार्मिक और भयाभव दृश्य उभरा है। यह परलोक का दृश्य नहीं, इसी लोक का है। इसी देश का मोहन चमार है। यह पात्र अपवाद भी नहीं है। यह हमारे देश की बड़ी आबादी का सच है। हमारे देश की दलित आबादी का तो वह साक्षात् प्रतिनिधि है मोहन चमार।

दलित जहां एक ओर आर्थिक अभाव झेलता है दूसरी ओर सामाजिक, सांस्कृतिक उपेक्षा का शिकार भी होता है। इसीलिए तो कवि एन.आर. सागर लिखते हैं– 'देश हुआ आजाद बताओ/तुमको क्या अधिकार मिला?/ भाईचारे के बदले में नफरत का संसार मिला।/बराबरी की मांग उठाई मार पड़ी, घर द्वार जला।''[8] यहां कवि ने आजादी पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। क्या यह कवि

द्वारा लगाया गया प्रश्न सिर्फ प्रश्न है? क्या यह विचारणीय मुद्दा नहीं है? क्या देश के अधिकांश लोग सच में अपने अधिकारों से वंचित नहीं हैं? इन्हीं सवालों से जूझ रहे थे। कथाकार और कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि भी। उन्होंने अपनी चर्चित कविता **'ठाकुर का कुआं'** में लिखा था– ''चूल्हा मिट्टी का, मिट्टी तालाब की।/तालाब ठाकुर का/भूख रोटी की, रोटी बाजरे की/बाजरा खेत का, खेत ठाकुर का/ बैल ठाकुर का, हल ठाकुर का, हल की–/मूंठ पर रखी हथेली अपनी/फसल ठाकुर की, कुआं ठाकुर का/पानी ठाकुर का, खेत–खलियान ठाकुर के/गली–मुहल्ले ठाकुर के/ फिर अपना क्या?गांव?शहर?देश?''[9] इस प्रकार सुकवि वाल्मीकि जी ने भी देश के समक्ष बड़ा सवाल खड़ा कर दिया था। यहां कवि ठाकुर या किसी जाति विशेष को संबोधित नहीं कर रहा है। यह प्रतीकात्मक संबोधन है। यह कविता आजादी के बाद अधिकार विहीन दलितों की चिंता जनक स्थितियों की ओर ध्यान खींचती है। दलित इस राष्ट्र का मेहनतकश वर्ग होकर भी सर्वहारा जैसा ही है। यह कविता प्रेमचंद की कहानी **'ठाकुर का कुआं'** शीर्षक से साम्य तो रखती है, लेकिन अर्थबोध में उससे भी कहीं आगे निकल जाती है, क्योंकि प्रेमचंद ने अपनी उक्त कहानी में दलितों को पानी की समस्या से जूझते हुए दिखाया था तो कवि वाल्मीकि ने अपनी उक्त कविता में उससे भी बड़े सवाल उठाये हैं जिनमें उसके जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं चूल्हा जो मिट्टी का है, पानी और बाजरा (अन्न) कुछ भी अपना नहीं है। इस दृष्टि से दलित का सवाल गांव से लेकर शहर और देश भर में फैलता चला जाता है। यह कैसा दुर्भाग्य रहा है। इस देश का जिसने अपने ही देश के लोगों के विकास होने से रोका तो क्या वे राष्ट्र के विकास और एकता के अवरोधक नहीं रहे हैं?

हर दलित कवि निराश नहीं है। वे आशावादी भी हैं। कवि कुसुम वियोगी तो **'प्रतिशोध'** कविता में अति उत्साहित भी हैं और आक्रोशित भी। वे लिखते हैं– ''अब हम/ आजादी की सांस लेना सीख रहे हैं/युग बदला है, परिभाषाएं बदली हैं/.....हम ही फटेंगे बन के बारूद/ जब तुम्हारे घर–बस्तियों व आंगन में लेने को प्रतिशोध/ तब तुम्हें कैसा लगेगा?''[10] दलितों ने लंबे समय तक जातीय गुलामी का दंश झेला है। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति कभी–कभी सपाट हो जाती है और वह विद्रोही शब्दों का प्रयोग करने लगता है। मगर सच्चाई तो यह है कि उसे अभी भी आजादी की सच्ची अनुभूति नहीं हुई है। इसीलिए सुशीला टाकभौरे दलितों और स्त्रियों को संबोधित करती हुई कहती हैं–

''स्वयं को पहचानना है/चक्की में पिसते अन्न की तरह नहीं/ उगते अंकुर की तरह जीना है।''[11]

सुशीला टाकभौरे की यह अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने भी कहा था कि गुलाम को गुलामी का अहसास करा दो। वह बेड़ियां अपने आप तोड़ लेगा। इसी गुलामी की चेतना के साथ उसकी आजादी की चेतना जुड़ी है। इसीलिए तो मनोरमा जाटव अपनी छोटी सी कविता में आजादी का सच इस प्रकार उघाड़ कर रख देती हैं–

''अंग्रेजों से आजादी तो/बस कुलीनों ने पाई है/हमारी झोपड़ी से तो/अभी वही दिखती खाई है।''[12] यहां मनोरमा जाटव की यह कविता 1997 में प्रकाशित हुई थी। यानी अब से 18 वर्ष पूर्व लिखी कविता में चित्रित समाज और देश की स्थितियां जस की तस बनी हुई हैं। यह राष्ट्रीयता की दृष्टि से चिंता जनक है। समाज कमजोर होते हैं तो राष्ट्र कमजोर होता है। दलित इस सच्चाई से अवगत हैं तभी तो वे समाज की असमान स्थितियों परिस्थितियों को चिंहित कर रहे हैं। उनका आधार चाहे जातीय हो या फिर आर्थिक हो। दलितों और गैरदलितों की जीवन स्थितियों के क्षेत्र में असमानता दिखाई पड़ती है। सुचर्चित कवि सूरजपाल चौहान बड़ी ही बेकाकी से लिखते हैं–

''मेरा गांव, कैसा गांव/न कहीं ठौर, न कहीं ठांव,/ कच्ची मढ़ैया, टूटी खटिया/घूरे से सटकर/ बिना फूंस का मेरा छप्पर/ मेरे घर न पेड़ की छांव/मेरा गांव , कैसा गांव/न कहीं ठौर, न कहीं ठांव।''[13] यहां कवि सूरजपाल चौहान जी ने उस गांव की असलियत हमारे सामने उघाड़ कर रख दी है जो गांव को स्वर्ग की संज्ञा देते नहीं थकते। गांव में भाईचारा का नारा देते हैं। यह कैसा स्वर्ग है यह कैसा भाईचारा का नारा है? जो गैरबराबरी और जातिवाद की नींव पर खड़ा है।

हमारे देश में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा बहुत प्राचीन है। हम इस शब्द को बोल कर गौरवान्वित होते रहे हैं पर सवाल यह है कि क्या विश्व को कुटुम्ब मानने वाला देश दलितों को भी कुटुम्ब का हिस्सा मानता है? क्या उसके दुख–सुख अपने दुख–सुखों से साझा करता है जो कुटुम्ब का स्वाभाविक गुण है। यह प्रश्न दलित कवि जयप्रकाश लीलवान **'कामरेड से बातचीत'** शीर्षक कविता में उठाते हैं–

''वसुधैव कुटम्बकम्'' की/ स्वर्ण लफ्ाजियों के ठीक पड़ोस में/पान्नी भंगिन

की सूजी देह का/भयानक अनुभव इस मुल्क के /माथे पर लगे हिमालय जैसे/प्रश्न–चिन्हों के जवाब/कहां जाते रहे,कॉमरेड??/भट्टों, खेतों और झुग्गियों के/इस विशाल चक्रव्यूह वाले/भारत में बिना सम्मान के /खटते हुए लोगों की आंखों में/भर आए दर्द का विज्ञान/ क्या 'दास कैपिटल' नहीं हो सकता ,कॉमरेड??''[14]

हिंन्दी दलित साहित्य न सिर्फ कविता तक सीमित है बल्कि दलित लेखकों ने आत्मकथा, कहानी, उपन्यास, पत्रकारिता लेखन किया है और अपना आलोचना शास्त्र तैयार किया है। यह वैश्विक है। केवल भारत में ही नहीं है। इस तरह दलित साहित्य अपनी अन्य विधाओं में समाज में व्याप्त जातिगत, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आधारों पर विषमताओं पर लेखन मजबूती से किया जा रहा है। चाहे ओमप्रकाश वाल्मीकि की **'सलाम'** और फिर **'गौहत्या'** कहानी हों जिनमें परंपरा और संस्कृति के नाम पर दलितों को कमजोर करने, उनके आत्मसम्मान को कुचलने तो कभी–कभी सीधे–सीधे उन्हें जातीयता के नाम पर छला और ठग लिया जाता है। जयप्रकाश कर्दम की **'नो बार'** कहानी आधुनिक समाज और महानगरों में जाति किस प्रकार हमारे बीच छिपी बैठी है। उन बारीकियों का पर्दाफाश करती है, तो श्यौराजसिंह बेचैन की **'शीतल के सपने', 'नॉन रिफंडेबिल'** और **'शोधप्रबंध'** जैसी कहानियां शिक्षा के क्षेत्र में आ रही रूकावटों को चित्रित करती हैं। डॉ. कर्दम का उपन्यास **'छप्पर'** और डी.पी. वरूण का **'अमर ज्योति'**, उमरावसिंह जाटव का **'थमेगा नहीं विद्रोह'**, कावेरी का **'मिस रमिया'** और 1954 में लिख गया पहला हिन्दी दलित उपन्यास **'मानव की परख'** जिसके लेखक देवीदयाल सेन थे। ये सभी उपन्यास समाज में दलितों की समाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और धार्मिक स्थितियों का बखूबी चित्रण करने में सफल रहे हैं।

दलित आत्मकथाएं अपने आप में महाकाव्य बन कर आईं हैं। उनकी काव्यात्मकता बहुत ही अपीलिंग है। मार्मिक कथात्मकता में गहरी काव्यानुभति भी दिखाई देती है। कई आत्मकथा पढ़ते हुए लगता है कि मार्मिक काव्यानुभति में डूब गए हैं। उनका एक–एक प्रसंग संवेदना को झकझोरता है जो आधुनिकता का तो लक्षण ही है, जैसे श्यौराजसिंह बेचैन की आत्मकथा **'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'** आत्मकथा में **'वे वक्त गुजर गया माली'** इसमें रूपक है, प्रतीकात्मकता है, अन्योक्ति है, बिम्ब है, क्योंकि यहां न कोई माली है न बाग है फिर भी माली और बाग की सार्थकता है। वह इसलिए है कि लेखक ने परिवार को बाग कहा है और मुखिया को माली। माली के असमय गुजर जाने पर बाग उजड़ जाता

है। उसी को लक्ष्य करके शीर्षक में ही अभिव्यंजना भर दी है कि पाठक सोचने लगता है कि यदि वेवक्त माली गुजर जाता है तो बाग में होता क्या है? इसीलिए इसी आत्मकथा का एक अन्य उपशीर्षक है **'अस्थियों के अक्षर'** उस में भी मार्मिक काव्यानुभति होती है, जो हमारी संवेदना को झकझोर कर रख देती है क्योंकि अस्थियों के भी अक्षर नहीं होते मगर जब बचपन में लेखक की मां पर एक रूपया चोरी करने का झूठा आरोप लगता है। उसकी मां सौतेले पिता द्वारा कूरता से पीटी जाती है। जब वह मां की चोटिल पीठ पर हल्दी मलता है। उसे उस चोट में काली–सफेद किताब के अक्षर दिखाई देते हैं क्योंकि बच्चे को उसका सौतेला पिता पढ़ने नहीं देता, मगर बच्चे में शिक्षा की विकट भूख है। इसी भूख के कारण उसने एक रूपया चोरी किया था। मगर उस रूपया से वह किताब भी नहीं खरीद पाया और सजा पाई उसकी मां ने। इस तरह यह प्रसंग भी संवेदना को झकझोर कर रख देता है।

इस प्रकार आज दलित साहित्य में आत्मकथा सहित राष्ट्रबोधक प्रभाव की रचनाएं लिखी जा रही हैं। उनका प्रभाव भी राष्ट्रीय स्तर का है। साहित्य समाज का दर्पण है। यह साहित्यिक कहावत पर भी प्रश्नचिंह लगे थे जिसे दलित साहित्य ने दर्पण के पीछे के दृश्य का चित्र भी दिखाया है और उससे बढ़ कर एक नया मुहावरा भी गढ़ दिया है कि दलित साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं है वह तो एक्सरे मशीन भी है। इस तरह दलित साहित्य की गूंज पूरी दुनिया में सुनाई दे रही है। साथ ही इसके सरोकार बहुत ही व्यापक हैं। मानव जीवन इसके केन्द्र में है। मानव किसी भी राष्ट्र की महत्वपूर्ण इकाई होता है। मानव से ही समाज का निर्माण होता है। जैसा समाज होगा वैसा ही राष्ट्र होगा। इस दृष्टि से दलित साहित्य की हर विधा में राष्ट्रीय चेतना के गहरे भावबोधक रचनाओं का सृजन हो रहा है। आवश्यकता है दलित साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन और मूल्यांकन करके उसे पहचाने की।

संदर्भ

[1] - आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय चेतना–प्रो. ऊजो किम, हिन्दी विभाग हांकूक, युनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज, सऊल, दक्षिण कोरिया, हिन्दी भवन विश्व भारती , शान्तिनिकेतन, 1995, पृ.1

[2] - सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगांतर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, सं. द्वितीय–1957, पृ. 164

[3] - बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाड्.मय, खण्ड–15, प्रका. डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और आधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, सं. 2000, पृ.–13

[4] - कंवल भारती– हम दलित, जुलाई 1997

[5] - मंगलसिंह जाटव–स्वर्गीय श्री 108 स्वामी अछूतानंद का जीवन–परिचय, पृ. 30

[6] - श्यौराज सिंह बेचैन– नई फसल कुछ अन्य कविताएं, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई, सं. 2014, पृ. 57–58

[7] - डॉ. धर्मवीर– किनारे भी मंझधार भी, समता प्रकाशन, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली, पृ. 96

[8] -एन.आर.सागर–आजाद हैं हम, पृ. 52

[9]- ओमप्रकाश वाल्मीकि–सदियों का संताप, सं. 1989, पृ.31

[10] - डॉ. कुसुम वियोगी– व्यस्था के विषधर, प्र. 28

[11] - सुशीला टाकभौरे–हिन्दी दलित कथा–साहित्य : अवधारणाएं और विधाएं, अनामिका प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2010, पृ. 56

[12] - नागमय संस्कति, संपा.–कला मरमट, 2 दिसम्बर 1997, उज्जैन से प्रकाशित साप्ताहिक पत्र)

[13] - सूरजपाल चौहान– दलित चेतना की कविताएं, सपां. डॉ. रामचन्द्र, प्रवीण कुमार, स्वराज प्रकाशन, 2014, पृ. 131

[14] - वही, पृ.155

डॉ. रजत रानी आर्य (मीनू)
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्र : 9911043588
ई–मेलः rajatranimeenu@gmail.com

भारतीय संस्कृति एवं कर्म सिद्धांत

आत्मा फलत कर्माणि नाश्रमो धर्मकारणम्!!

महाभारत, शांतिपर्व (111/13)

अर्थात् आत्मा ही शुभ कर्मों के लिए प्रेरणा देती है। चारों आश्रमों में कोई विशेष आश्रम ही धर्म का कारण नहीं हुआ करता।

भारतीय संस्कृति 'कर्म सिद्धांत' पर अवलम्बित है। वह मनुष्य को सत्कर्मों द्वारा उच्च से उच्चतर उद्देश्यों की ओर प्रेरित करती है तथा मानव के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने की पक्षधर है। गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं–

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा
जो जस करे सो तस फल चाखा।।

रामचरित मानस/अयोध्या

निष्काम कर्म :– भारतीय जीवन दर्शन में निष्काम कर्म पर अत्यधिक बल दिया गया है। निष्काम शब्द निः+काम के योग से बना है। अतः निष्काम कर्म से अभिप्राय है– वह कार्य जो बिना किसी कामना या आसक्ति के किया जाए। वेदों में निष्काम कर्म के संबंध में कहा गया है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

यजुर्वेद, 40/2

अर्थात् ''मनुष्य कर्म करते हुए इस संसार में सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार से वांछित कर्म करने पर व्यक्ति कर्म में लिप्त नहीं होता।'' इस मन्त्र में 'लिप्यते' शब्द विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य फल में लिप्त होकर कर्म न करे, निर्लिप्त रहे, आसक्ति रहित होकर कार्य करे। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है–

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

अथर्ववेद, 7/52/8

अर्थात् ''मेरे दाहिने हाथ में कर्म है तो बाएँ हाथ में जय।'' इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि कर्म का फल अवश्यम्भावी है। मनुष्य जैसा कर्म करेगा वैसा ही फल भी प्राप्त करेगा। अथर्ववेद के ही एक अन्य मन्त्र में तप की उत्पत्ति भी कर्म से बताई गई है।–

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत।।

अथर्ववेद 11/8/6

अर्थात् ''प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर तप और कर्म दोनों ही विद्यमान थे। तप निश्चय ही कर्म से उत्पन्न हुआ है। इस कारण उस कर्म को सृष्टिवेत्ता श्रेष्ठ मानते हैं।''

निष्काम कर्म के सम्बन्ध में योगिराज श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध के अवसर पर असमंजस में पड़े हुए कर्त्तव्य–विमूढ़ अर्जुन को समझाते हुए कहा है–

कर्मण्येवाचिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि।।

भगवदगीता, 2/47

अर्थात् हे ''अर्जुन! तेरा कर्म करने में अधिकार है। फल की प्राप्ति या उसके परिणाम में नहीं। तू कर्मफल का कारण मत बन।'' यहाँ अभिप्राय यह है मनुष्य निष्ठापूर्वक कर्म करे और फल को ईश्वर पर छोड़ दे।

महाभारत के शान्तिपूर्व में कहा गया है– ''सकाम कर्म से मनुष्य बंधन में पड़ जाता है और ज्ञान से मुक्त हो जाता है।

कर्मणा बध्यते जन्तु विद्यया तु प्रमुच्येत।

महाभारत, शांति. 241/7

कर्मफल के सम्बन्ध में यह सुनिश्चित है कि प्रत्येक मनुष्य संसार में अपने कर्मफल के अनुरूप ही सुख–दुख भोगने के लिये बाध्य है। अथर्ववेद में कहा गया है–

पक्तारं पक्वं पुरराविशति।

अर्थर्ववेद, 2/3/48

अर्थात् मनुष्य जैसा पकाता है, वैसा ही खाता है। जैसा करता है, वैसा भरता है।

संसार में प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करता है। उसके कर्म ही उसे बनाते, उठाते तथा गिराते हैं। मनुष्य के सत्कर्म ही उसे सत्पुरुष बनाते हैं तथा दुष्कर्म उसे उद्योगति को प्राप्त करा देते हैं। श्रेष्ठ कर्मों की प्रशंसा करते हुए अथर्ववेद में कहा गया है कि– ''उत्तम कार्यों को करने वाले को देवता भी चाहते हैं, स्वप्नशील, प्रमादी पुरुष को नहीं।''

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति

अथर्ववेद 20/18/13

प्रश्नोपनिषद् में भी इसी प्रकार का कथन प्राप्त होता है– ''पुण्य कर्मों द्वारा पुण्य लोक, पापकर्म से पापमय लोक, मिश्रित कर्म से मनुष्य लोक प्राप्त होता है।''

पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्याम मेव मनुष्यलोकम्।।

प्रश्नो. 13/3/7

कबीरदास जी ने भी सरल शब्दों में अत्यन्त हृदयग्राही बात कही है–

राम झरोखे बैठकर सबका मोजरा लेत।
जाकी जैसी चाकरी ताको ता फल देत।।

प्रायश्चित एवं पश्चाताप

सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि पाप कर्म करने के उपरान्त यदि प्रायश्चित कर लिया जाए तो पाप से मुक्ति मिल जाती है, किन्तु प्रायश्चित करने से, दुष्कर्म के फल से नहीं बचा जा सकता।

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते।
नैवं कुर्याम् पुनरिति निवृत्या पूयते तु सः।।

मनुस्मृति, 11/13

अपने बुरे कर्म पर यदि कोई स्वयं अपने हृदय में लज्जित अनुभव करे तो यह प्रायश्चित होगा। यह उसे सदाचारी बनाने में समर्थ हो सकता है। हृदय से निष्ठापूर्वक पश्चाताप करके यदि कोई मन से दृढ़ संकल्प कर ले कि वह भविष्य में बुरे कर्म नहीं करेगा तो उसका जीवन स्वच्छ एवं पापरहित हो जाएगा, किन्तु प्रायश्चित से पूर्व जो पापकर्म वह कर चुका है, उसका फल तो उसे भोगना ही पड़ेगा।

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति, मनः सत्येन शुद्धय

अर्थात् ''जल से तो केवल शरीर का मैल छूट जाता है। मन तो सत्कर्मों से ही शुद्ध होता है।''

कर्म एवं पुनर्जन्म

भारतीय परम्परा में वेदों में पुनर्जन्म एवं कर्म–व्यवस्था का वर्णन प्रायः मिश्रित रूप में मिलता है। पुनर्जन्म जीवात्माओं के अपने–अपने कर्मों के कारण होते हैं। अथर्ववेद में एक स्थल पर वर्णित है– ''हे जीवात्मा! तू स्त्री है और तू पुरुष, तू कुमार होता है और तू ही कुमारी। तू ही बूढ़ा होकर डण्डा लेकर चलता है। इस प्रकार नाना मुखों वाला होकर, नानाविध जन्मधारण करता है।''

त्वंस्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि।।

–विश्वतोमुखः।। अथर्ववेद, 10/8/27

यजुर्वेद में भी इसी प्रकार एक मन्त्र में अग्नि से जीवात्मा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि– ''हे जीवात्म! भस्म हुए शरीर से जल, पृथ्वी (आदि पंचतत्व रूप) कारण को प्राप्त करके माताओं से संयुक्त होकर ज्योतिष्मान्, पुनःप्रकाशित हो अथवा पुनर्जन्म को धारण कर।''

प्रसद्य भस्मना योनिं अपश्च पृथिवीमग्ने।
सो सृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः।।

यजुर्वेद, 12/3/8

महाभारत का भी कथन है कि ''मनुष्य जो भी कर्म करता है वे संचित रहते हैं। उनके फल को भोगने के लिए उसे अपने कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म प्राप्त होता है तथा तदनुरूप किसी योनि में जन्म मिलता है।''

येषां ह्येतानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तानेते प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः–पुनः।।

महाभारत

भारतीय जीवन दर्शन की संवाहिका भारतीय संस्कृति में 'कर्म' अत्यंत महत्त्वपूर्ण है– ''गहना कर्मणो गतिः''। मनुष्य को प्रत्येक कार्य बहुत सोच–विचार कर करना चाहिए क्योंकि शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल का भोग मनुष्य को ही करना पड़ता है।''

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतकर्म शुभाशुभम्

वस्तुतः कर्म सिद्धान्त नैतिकता का प्रधान स्त्रोत रहा है तथा मानव मूल्यों का अनुसरण करने में उत्साहवर्धक कार्य करता है। अतः मनुष्य को नानावधि प्रलोभनों में न फंसकर श्रेय पथ का अनुसरण करते हुए परम लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः
तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीराः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।

कठोपनिषद्

सन्दर्भ

1. उपाध्याय आचार्य बलदेव – वैदिक साहित्य और संस्कृति
शारदा संस्थान, वाराणसी, 1989

2. प्रो. शशिप्रभा कुमार – वैदिक अनुशीलन
विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली 1998

3. मिश्र, प्रो. कौशल किशोर – महाभारत में राजधर्म
राहुल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ

4. शर्मा, आचार्य भेषराज – वैदिक साहित्य का इतिहास
हंसा प्रकाशन, जयपुर

5. डॉ. सुनीता शर्मा – श्रीमद्भागवत एवं महाभारत में श्रीकृष्ण
प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2014

6. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि – साहित्य और संस्कृति
भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1970

डॉ. सुषमा चौधरी
असिस्टेंट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्र : 9868382884
ई–मेलः sushma.choudhary2@gmail.com

'आधा गांव' के बहाने : क्या ढूंढने निकले हैं हम 'राही' की गंगौली में

राही मासूम रज़ा का 'आधा गांव' अपने छपने से लेकर आज तक चर्चाओं और विवादों के घेरे में रहा है। 'आधा गांव' को साहित्य अकादमी पुरस्कार इसलिए नहीं मिल पाया क्योंकि इस पर आरोप लगाया गया कि इसकी भाषा अशिष्ट है। कभी इसकी भाषा पर सवाल उठे तो कभी इसके कथानक पर... कभी मुद्दा यह रहा कि यह साम्प्रदायिक है तो कभी यह कि इसे आंचलिक कहा जाए या नहीं। अनेक साहित्यालोचकों ने इसे आंचलिक उपन्यास कहा है लेकिन कुछ इस मत से सहमत नहीं है। विशेषकर भगवान सिंह 'समय की सलवटें और आधा गांव' पुस्तक में। अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसे शामिल किया गया और फिर इसे उनसे निकाल भी दिया गया।

मुझे शोध के उस सत्र में 'आधा गांव' पढ़ने को कहा गया, जिसमें हम इतिहास के स्त्रोतों का अध्ययन करते हैं। मैं यूं कहूं कि मैंने नॉवल के बारे में सुना ज़रूर था और इसे खरीदकर भी रखा था लेकिन मुझ तक ये नॉवल अम्बेडकर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के ज़रिए पहुँचा है। इस नॉवल के पाठ में मेरे अन्दर का आम पाठक भी काम करेगा, जो नॉवल के देशकाल तथा लेखक के लेखन के बारे में कुछ ज़्यादा नहीं जानता है लेकिन साथ ही साथ इतिहास पर शोध करने के कौशल सीख रहा पाठक भी, अपने पूर्व और वर्तमान अध्ययनों के साथ इसे पढ़ेगा। कहना ये होगा कि मैं राही मासूम रज़ा द्वारा सन् 1936–37 से सन् 1952 की घटनाओं पर 1966 में लिखे गए नॉवल को सन् 2016 में पढ़ रहा हूँ। यद्यपि किसी कृति में लेखक के अपने स्वर तथा युगीन परिस्थितियों के बलाघात को पढ़ना स्वयं में एक महत्वपूर्ण एंव रूचिकर कार्य है। घटनाओं का समय, लेखन का समय और पाठ का समय तीनों अपने–अपने बलों और दबावों के साथ इस रीडिंग में मौजूद हैं।

नॉवल की खास बातों और विशेषताओं की चर्चा करते हुए मैं समीक्षकों और इतिहासकारों के उपन्यास के बारे में विचारों का हवाला दूंगा और इतिहास के लिए यह उपन्यास कौन–कौन सी संभावनाएँ खोलता है इस बात की चर्चा भी इस लेख में करूंगा। लेख के आखिरी हिस्से में इतिहासकारों से मोटी सहमतियाँ जताते हुए कुछ सामान्य लेकिन बारीक बातों की ओर भी इशारा

करने की कोशिश की जाएगी जो अतीत के पुनर्निर्माण में साहित्यिक स्रोतों की ज़रूरत तथा इनके इस्तेमाल के तरीक़ों से संबंधित हैं।

राही मासूम रज़ा का 'आधा गांव' गंगौली का तस्कीरा है। गंगौली लेखक के अब्बा की ननिहाल थी जो गाज़ीपुर से 12–14 मील की दूरी पर है। गांव में सैय्यद ज़मींदारों की आबादी है जो उत्तर पट्टी और दक्खिन पट्टी में बंटी हुई है। इसके अलावा राकियों, जुलाहों, मेहतरों, नाइयों, भरों और चमारों की बस्तियाँ गांव को पूरा करती हैं। उपन्यास में यूं तो बहुत से पात्र हैं लेकिन कुल मिलाकर यदि किसी एक का चरित्र उभरता है तो वह गंगौली का है – पूरे गांव का।

कहानी मुहर्रम को केन्द्र में रखकर लिखी गई है। लेखक के अपने शब्दों में मुहर्रम यहाँ मातम भी है और त्यौहार भी। मुहर्रम एक मौका है जब पूरा गांव इकट्ठा होता है, मजलिसें होती हैं, तबर्रुक बंटता है, ताज़िए निकलते हैं और पूरे गांव पर रौनक आती है। मुहर्रम एक मौका है छुट्टी का, रोज़मर्रा की ज़िंदगी से हटकर कुछ और चीज़ों पर ध्यान देने का, कविता का और एक रस्म है सादगी की जिसका अपना सौन्दर्य है। मुहर्रम प्रतीक है पुरानी रवायतों का और यही मुहर्रम उपन्यास के अन्त में आकर एकदम नए मायने अख्तियार कर लेता है। जहाँ बंटवारे के बाद कुछ बचे–खुचे शिया मुसलमान परिवार एक लुटा–पीटा मुहर्रम मनाते हैं और मजलिस अब केवल इमाम हुसैन पर ही मातम नहीं करती बल्कि अपनों पर, अपने पुराने दिनों पर और अपने आप पर भी मातम करती है।

लेखक के अनुसार यह गंगौली में गुज़रने वाले समय की कहानी है। यह समय के बदलने की कहानी है। मुहर्रम को यदि केन्द्र माने तो तीन किस्म के समय, कहानी में नज़र आते हैं। इस्लाम के शुरू के दौर में मुहर्रम की घटनाओं का समय, राष्ट्रीय आन्दोलन का समय और रोज़मर्रा की ज़िंदगी का समय। लेखक बड़ी कुशलता से तीनों समयों को एक साथ चला पाया है। यदि उपन्यास में समय की अपनी गति को देखें तो कहानी बहुत धीमे–धीमे आगे बढ़ती है। समय कई बार पीछे जाता है, ऐसा इसलिए क्योंकि हर पात्र का अपना चरित्र है और अपनी कहानी। नॉवल सीधे–सीधे आगे नहीं बढ़ता बल्कि कई बार घटनाओं का जाल–सा बन जाता है। उपन्यास के आरम्भ में स्वयं लेखक के अनुसार "युग एक बिना जिल्द की किताब की तरह एक खुले मैदान

में पड़ा हुआ है। हवा की हल्की सी लहर भी इसके पन्ने उलटती–पलटती है। पढ़ने वाले सामने पन्नों में फरसब घटते–बढ़ते रहते हैं, कभी वह दस पृष्ठ आगे निकल जाता है और कभी दस पृष्ठ पीछे रह जाता है।"

कहानी के तीन–चौथाई पूरा होने पर लेखक एक भूमिका लिखता है और घोषणा करता है कि एक युग समाप्त हो चुका है और एक नया युग शुरु हो चुका है। इस नए युग के बारे में लेखक के क्या द्वन्द हैं इसकी चर्चा आगे होगी। कहानी में बहुत से पात्र हैं जिनमें से कुछ सैय्यद हैं, कुछ गैर–सैय्यद, कुछ ज़मींदार हैं, कुछ आसामी, कुछ हिन्दू हैं, कुछ मुसलमान, कुछ ऊंची ज़ात के हैं, कुछ नीची ज़ात के, कुछ मर्द हैं तो कुछ औरतें, कुछ गांव के हैं, कुछ शहर के लेकिन एक बात इन सबके साथ एक जैसी है कि ये सबके सब व्यक्ति हैं टाइप नहीं और अपनी कच्ची–पक्की ज़िंदगी जीते हैं कोई जीवन–दर्शन नहीं। फुन्नन मियां, हाजी गफूर, हकीम अली कबीर, झंगटियाबो, रब्बन बी ये सबके सब गंगौली के हैं और कोई भी भला–बुरा काम करते समय यह नहीं सोचते कि ये किस टाइप के हैं।

राही मासूम रज़ा ने मानो नॉवल की भाषा गांव की मिट्टी खरोंच के निकाली हो। भाषा में कहीं भी किसी तरह की नाटकीयता नहीं है। पात्रों के हिसाब से सहज, सटीक और सजीव संवाद इसमें रचे गए हैं। यह न पूरी तरह भोजपुरी है और न पूरी तरह हिन्दी–उर्दू। लेखक ने जिस अनपढ़ और फूहड़ भाषा के इस्तेमाल से गांव की पूरी ज़िंदगी को अपने खुरदरेपन, सादगी और बेबाकी के साथ जिस तरीके से पेश किया है वो बेजोड़ है। भाषा पात्रों की सामाजिक हैसियत को ध्यान में रखकर रची गई है। सफिरवा, बछनिया, महरूनिया, सहफूनिया, कम्मो आदि में लगे हुए वा, या और ओ जैसे प्रत्यय इन पात्रों की सामाजिक हैसियत के ही परिचायक हैं तो वहीं ऊंची हैसियत दर्शाने के लिये बी, मियां, साहब आदि जैसे आदरसूचक शब्द इस्तेमाल किए गए हैं। एक अच्छी कोशिश यह होगी कि नॉवल में औरतों और मर्दों की मुख़तलिफ ज़बान की खुसूसियात पहचानने की कोशिश भी की जाए। मिसाल के तौर पर मर्दाना गालियों और ज़नाना गालियों में फर्क है। नौज, माटी–मिली, निखौंदी आदि ज़नाना गालियाँ हैं।

'आधा गांव' एक भरा–पूरा उपन्यास है। यह घटना प्रधान भी है और पात्र–प्रधान भी। यह रोचक भी है और विचारोत्तेजक भी, ऐतिहासिक भी है और

कलात्मक भी, लोकल भी है और नेशनल भी। सही मायने में अगर आधे गांव की पूरी तस्वीर को यदि अलग–अलग नज़रों और अलग–अलग कोणों से देखने लगे तो बहुत कुछ नया नज़र आएगा।

उपन्यास में जहाँ एक तरफ सन् 1936–37 के चुनावों, द्वितीय विश्वयुद्ध, बंगाल के अकाल, भारत छोड़ो आन्दोलन, आज़ादी, बंटवारे और ज़मींदारी के खात्मे की चर्चा है तो वहीं दूसरी और गांव की अपनी ज़िन्दगी है, उसके अपने टकराव और तनाव हैं, अपनी उलझने हैं और बावजूद इस घोषणा के कि वहाँ कुछ नहीं बदलता, अपने बदलाव भी हैं और अपने अर्न्तविरोध भी। यहाँ सवाल यह उठेगा कि हम किस **'आधे'** की बात कर रहे हैं।

क्या यह वो आधा गांव है जिसे एक मालगुज़ारी से जुड़ा हुआ शब्द समझा जाए, जिसमें उत्तर–पट्टी और दक्खिन पट्टी के ज़मींदारों को आठ–आठ आना (या आधा–आधा हिस्सा) जाता है? यह वो आधा गांव तो नहीं जो हर साल मुहर्रम के बाद आधा हो जाता है? आधे गांव का क्या मायना है? क्या गांव सैय्यदों, गैर–सय्यदों, ऊंची जात–नीची जात, हिन्दुओं–मुसलमानों या फिर औरतों और मर्दों में बंटा हुआ है? क्या यह वो गांव है जो बंटवारे के बाद कुछ बचे–खुचे लोगों के साथ आधा रह गया है? या फिर वो जहाँ नए और पुराने मूल्यों को अपनाने वाले लोगों के बीच एक खाई खड़ी हो गई है? सही मायनों में यह इन सारे सवालों की कहानी है।

अब सवाल यह होगा कि हम इस पूरे आख्यान को किसकी नज़र से पढ़ें? उपन्यास के तमाम नारी पात्रों की नज़र से अगर देखें तो ये ऐसा गांव हैं जहाँ कुछ भी नहीं बदलता। मामला और पेचीदा हो जाएगा अगर किसी 'चमारिन' या 'नाइन' की नज़र से इसे देखें। झंगटिया बो सुलेमान चा के घर आ जाने पर भी झंगटिया बो ही रही। रहमान बो जवात मियां के घर रहने पर भी रहमान बो ही रहती है।

यदि अब्बू मियां और हकीम अली कबीर का चश्मा पहन लिया जाए तो यह कहानी टूटते–बिखरने सामन्ती मूल्यों की है और नए मूल्यों और परिवर्तनों के सामने न टिक पाने की लाचारी है। जहां तक परुसराम या कम्मो का सवाल है तो यह नए अवसरों की तलाश और प्राप्ति की कहानी है (परुसराम चमार एम.एल.ए. तथा कम्मो होम्योपैथी डॉक्टर हो जाता है)। बात अगर तन्नु और

सद्दन की हो तो विभाजन के बाद नए मुल्क में मिलने वाले अवसर लेकिन साथ ही साथ विस्थापन का दर्द महत्वपूर्ण हो जाएगा। अगर सल्लो, (तन्नू की पत्नी), सद्दन की पत्नी और बच्चों या फिर सारी बिरादरी की ओर से सोचें तो यह अपनों से बिछड़ने और तन्हाई में जीने की कहानी है। सईदा के लिए यह समय घर से निकलकर पढ़ने और नौकरी पा लेने का है लेकिन मां–बाप को माकूल हड्डी न मिलने पर उसे कुंवारा रहना पड़ता है। यहाँ हड्डी से अभिप्राय डील–डौल से न होकर वंश की शुद्धता से है। यही उपन्यास की अँग्रेज़ी अनुवादिका भी सही मानती हैं। प्रो. शाहिद अमीन से चर्चा के क्रम में यह भी स्पष्ट हुआ है कि हड्डी का सवाल इसलिये भी महत्वपूर्ण है क्योंकि समुदाय में लैंगिक अनिमितताएँ बहुत हैं। इतना ही नहीं गांव की बीबीयाँ उसे और उसकी मां को उलाहने भी देती हैं लेकिन मां–बेटी के नए कपड़ों की चमक पर आकर्षित हुए बिना भी नहीं रह पातीं। कुल मिलाकर यह समय की कहानी है और वह भी संक्रमण के समय की जो सबके लिए एक–सा था। कुछ मौकापरस्त लोग जिसका फायदा उठा गए और कुछ पुराने लोग जिसके आगे विकल्पहीन हो गए।

अब यह कहानी या फिर यूं कहें कि कहानियों का समुच्चय एक इतिहास के विद्यार्थी के सामने रखा है वह इसका क्या करेगा? क्या इसे महज़ फिक्शन मान के छोड़ देगा या इतिहास के महाख्यान (Grand Narrative) में खाली जगहें, दर्जे या अन्तराल ढूंढेगा और इस कहानी में से कुछ टुकड़े उठाकर उनमें भर देगा? (यह कहकर कि केवल सृजनात्मक साहित्य (creative literature) में ही इसका उल्लेख मिलता है इसलिए सावधानी से इसका प्रयोग किया जाए।) या फिर यह इतिहास को नए आयाम देने, इतिहास लेखन की नई विधियाँ खोजने और स्वयं इतिहास में नए कर्त्ताओं को स्थापित करने का प्रश्न होगा।

जैसा कि पहले कहा गया है कि यह उपन्यास गंगौली की दास्तां या तस्किरा है उस पर भी यह वह आधा गांव है जिसे लेखक जानता है। क्या गंगौली महज एक गांव है और वह भी सिर्फ सैय्यदों का। शायद गंगौली इससे कहीं आगे की चीज़ है। गंगौली की अपनी सत्ता–समीकरणें हैं जो अलग–अलग समयों पर परिलक्षित होती हैं। वे सत्ता समीकरणें चाहे ज़मींदारों और असामियों के बीच हों या फिर खुद ज़मींदारों में दोनों पट्टियों के बीच। मामला जातियों

का हो या फिर खालिस सैदानियों का या रखनियों (Keeps) का, झगड़े पट्टीदारी के भी होते हैं, अपने आप को सर्वश्रेष्ठ साबित करने के भी। लोगों के बीच अपनी दोस्तियाँ भी हैं और अपनी दुश्मनियाँ भी, लोगों के अपने–अपने मज़हब भी हैं और विश्वास भी, लेकिन इन सबके बावजूद समुदाय में एकरूपता है, समरसता है और अपने किस्म का जीवन है।

इस समुदाय का सब कुछ अपना है और अपने किस्म का है। अपनी भाषा है, अपना इतिहासबोध है और अपनी विश्वदृष्टि भी। एक खास भाषा और खास लिपि ही यह समुदाय स्वीकार करता हैं। उनके लिए अंग्रेज़ी गिटर–पिटर है तो देवनागरी निखौंदी। नौहा भी वही है, शब्द भी वही है, स्वर भी वही है लेकिन लिपि बदलते ही उसका असर खत्म हो जाता है। छिकुरिया को कोई मतलब नहीं है कि औरंगज़ेब ने कितने मंदिर तोड़े। मुगलों ने कहीं कुछ बनवाया हो या न बनवाया हो लेकिन 'बौरी का पुल' ज़रूर बनवाया था और जिसका बचा–खुचा मसाला वे वहीं छोड़ गये थे जिसे आज तक औरतें बच्चों के दांत निकलते समय उसे चटाती हैं। कम्मो के लिये सवाल है कि अलीगढ़ किस मुल्क में है छिकुरिया के लिये पाकिस्तान कोई 'मस्जिद–वस्जिद' होगा जो गाज़ीपुर में बन जाए तो वह भी जाकर देख लेगा। दुल्लन और अन्य बच्चों के लिये (जिनमें हिन्दू बच्चे भी शामिल हैं) 'लड़ के लेंगे पाकिस्तान' एक नारा है। यदि पूछा जाए कि किससे? तो जवाब मिलता है अलीगढ़वालन से। चमार कुँए पर चढ़कर पानी भर लाता है तो यह सब जर्मन का कसूर है। द्वितीय विश्वयुद्ध का मतलब यहाँ के लोगों के लिये मुहर्रम के दिनों में शक्कर का न मिलना है, मिट्टी के तेल का आबेज़मज़म होना है और अपनों का लापता होना या मारा जाना है।

ये पूरे तीन सौ छप्पन पृष्ठ इसी गंगौली की रोजमर्रा की ज़िंदगी का एक रोज़नामचा हैं। एक छोटी सी दुनिया का बड़ी दुनिया के साथ अलग–अलग समय पर कैसा–कैसा रिश्ता बनता है; उसका वृतांत है यह उपन्यास। खबरें कैसे छोटी दुनियां में आती हैं उनके क्या–क्या मायने होते हैं और वे कितना, कहाँ तक और कैसा असर करती हैं। सवाल राष्ट्रीय आंदोलन का हो या पाकिस्तान आन्दोलन का, मामला चुनावों का हो या जमींदारी के खत्म होने का सब चीज़ें शहर से आती हैं लेकिन गांव वालों को प्रभावित अवश्य करती हैं।

कम्मो, हाजी गफूर, फुन्नन मियाँ या फिर तन्नू सबके लिये पाकिस्तान के अलग–अलग मायने हैं और इन सब तक पाकिस्तान आन्दोलन अलीगढ़ के

पढ़े–लिखे लड़कों के माध्यम से पहुँचता है। ऊपर दिये गये चारों नामों में से कोई नहीं समझ पा रहा है कि आखिर पाकिस्तान की ज़रूरत क्यों है और पाकिस्तान बनने से क्या नया हो जाएगा? लोग फिर भी मुस्लिम लीग को वोट देते हैं और पाकिस्तान की मांग का समर्थन करते हैं। उदाहरण के लिये हकीम अली कबीर पाकिस्तान का समर्थन इसलिए करते हैं कि डिप्टी अली हादी और सद्दन की तरक्की का सवाल है।

आसपास के गांवों में कोई स्वामीजी आकर भाषण देते हैं और दंगे की संभावनाएँ भी बनती हैं लेकिन ठाकुर साहब के सामने आने पर भीड़ शांत भी हो जाती है। कुल मिलाकर के हम देखते हैं कि बड़ी दुनिया से खबरे आती हैं और गांव वाले अपने–अपने हिसाब से उनके अलग–अलग अर्थ लेते हैं। एक अनिश्चितता की स्थिति बनती है और यही अनिश्चितता लोगों के निर्णयों को प्रभावित करती है। तन्नू बावजूद पाकिस्तान का विरोध करने के स्वयं पाकिस्तान चला जाता है और लौटकर कभी नहीं आता। गांव के कई और लड़के भी पाकिस्तान चले जाते हैं।

छोटी दुनियां का बड़ी दुनियां के साथ रिश्ता केवल उन दो दुनियाओं के बीच का भी है जिनमें से एक बदल रही है या बदल चुकी है और दूसरी या तो बदलने के खिलाफ है या बदलने की कोशिश कर रही है। आज़ादी और ज़मींदारी का खात्मा ऐसी ही दो घटनाएँ हैं जो गांव के हर इंसान को कमोवेश प्रभावित करती हैं। वो सैदानियाँ जो कभी ज़मीन पर पैर नहीं रखती थीं और हमेशा डोली में चला करती थीं, अब पैदल चलती हैं क्योंकि अब डोली उठाने वाले कहार नहीं आते। जो नीची जात के लोग पहले मियां लोगों के सामने उकड़ू बैठा करते थे, वो अब अपनी ही जाति के एम.एल.ए. के समाने उकड़ू बैठते हैं और मियां लोगों के सामने बीड़ी पीते हैं। जो चमाइन, ब्राह्मण–ठाकुर और सैय्यद दोनों के लिए 'चमाइन' हुआ करती थी वो आज एम.एल.ए. की बीवी होकर सैदानियों के पलंग पर बैठती है और सैदानी के विरोध करने के बावजूद भी हम्माद मियां को लीपा–पोती करनी पड़ती है। कहा जाए तो गलत न होगा कि जो सत्ता पहले जातीय और सामंती समीकरणों पर चला करती थी अब नई लोकतांत्रिक सीमकरणें बनाती है। लेखक ने स्वतंत्रतापूर्व जमींदार के दरबार तथा स्वतंत्रता के बाद परुसराम के दरबार दोनों का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है।

अनेक इतिहासकार यह मानते हैं कि विभाजन और स्वतंत्रता महज़ घटनाएँ नहीं हैं ये प्रक्रियाएँ हैं जो एक निश्चित तिथि से बहुत पहले और बाद तक जाती हैं। लेकिन, अब तक का इतिहास इन्हें केवल घटनाएँ मानकर ही लिखा गया है और आज़ादी हो या विभाजन, इसके बाद मानो इतिहास खत्म–सा हो जाता है। अब तक का इतिहास न तो विभाजन से जुड़े लोगों के दुख–दर्द, अनिश्चितताओं, निराशाओं और उलझनों आदि का बयान करता है और न ही यह उस पूरे समय की पेचीदगियों को सही से पकड़ पाता है। यह इतिहास न तो उन असाधारण दिनों में रोज़मर्रा की ज़िन्दगी चलाने की कोशिशों को दर्ज करता है और न ही ऐसी घड़ी में कुछ गिने–चुने लोगों की विचारशीलता और सहिष्णुता को ही जगह देता है। इतिहास हमें यह भी नहीं बताता कि विभाजन से पूर्व लोगों के आपसी रिश्ते किस किस्म के थे और उनमें धर्म की भूमिका क्या थी। यह महाख्यान उस उहापोह की भी कोई बात नहीं करता जो दो देशों के अस्तित्व में आने से पैदा हुई। इस सारे डिस्कोर्स में उन लोगों के लिये भी कोई जगह नहीं है जो इस नए जुग्राफिए या नयी सरहदों से या तो बेखबर थे या इनके प्रति उदासीन थे।

इन सारे सवालों के जवाब ढूंढने के लिये अनेक इतिहासकार और लेखक अब साहित्य की तरफ मुड़े हैं। क्या हाजी साहब, फनन मियां या फिर मिगदाद के संवाद अपने–अपने ढंग से एक आम आदमी की घोषणा नहीं है कि पाकिस्तान एक सीमित शिक्षित मध्यवर्गीय मुसलमानों का खड़ा किया हुआ आन्दोलन है। और विभाजन से पहले सभी हिन्दू, हिन्दू नहीं थे और सभी मुसलमान, मुसलमान नहीं थे। क्या हकीम अली कबीर की यह बात कि हमें क्या मालूम था कि यह पाकिस्तान माँ–बाप, बेटा–बेटी को भी अलग कर देगा। उस अनिश्चितता की बात नहीं करती जिसकी बात आजकल इतिहासकार कर रहे हैं। गंगौली या अलीगढ़ कहाँ जायेंगे यह सवाल वैसा ही है जैसा कि हैदराबाद या कश्मीर या मालदा कहाँ जायेंगे। राही मासूम रज़ा का यह वाक्य शायद इस उपन्यास की सबसे बड़ी ताकत है कि ज़िंदगी की कहानियाँ कभी खत्म नहीं होती क्योंकि ये बलवे की कहानियों से बहुत लंबी होती हैं। क्या उन असाधारण दिनों में भी यह रोज़मर्रा की ज़िंदगी के चलते रहने का ऐलान नहीं है।

प्रो. शाहिद अमीन ने इस नॉवल को अपने एम.ए. के पाठ्यक्रम के तहत आधुनिक भारत के आर्थिक इतिहास वाले पर्चे की पठन–सामग्री की सूची में डाला है और वे इसके प्रवास एवं विस्थापन वाले पहलुओं की पड़ताल पर ज़ोर देते हैं। कौन कब विस्थापित होता है और क्यों? सफीरवा कलकत्ता क्यों चला

गया... तन्नू, सद्दन, खुद सफीरवा और अन्य लड़के बाद में पाकिस्तान क्यों चले गये? क्यों लड़के अलीगढ़ जाते हैं? क्यों गाज़ीपुर या फिर पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश के नौजवान कलकत्ता, ढाका, या कानपुर या बम्बई चले जाते हैं? हाल के दिनों में मेघना गुहा ठाकुरता ने पारिवारिक स्मृतियों पर किए गये अपने अध्ययन में बताया है कि सन् 1947 में भारत से बंगलादेश और बंगलादेश से भारत में होने वाले विस्थापन के पीछे केवल हिंसा और खौफ ही एक कारण नहीं था बल्कि शिक्षा, नौकरी, पारिवारिक एवं वैवाहिक सम्बन्धों का टूटना या बनना आदि भी अनेक कारण थे। "ये यहाँ से जाकर भी यहीं रहते हैं।" लेखक क्या केवल गाज़ीपुर वालों की बात कर रहा है या फिर पूरे प्रवासी भारतीयों की? कुछ बातें इस अनिश्चितता के समय (Time of Uncertainty) में लोगों द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक गतिशीलता के नये तरीक़े अपनाने के बारे में भी कहनी ज़रूरी लग रही हैं। 'हरामी कम्मो' होम्योपैथी पढ़कर 'डॉ. कमालुद्दीन' हो जाता है। परसुरमवा गांधी टोपी पहनकर और हिन्दी सीखकर पहले कांग्रेसी, फिर नेता और अन्त में एम.एल.ए. हो जाता है। बदली हुई परिस्थितयों में सईदा अध्यापिका हो जाती है। अर्थात् यह संक्रमण काल केवल ध्वंस और उथल–पुथल का ही समय नहीं था बल्कि यह उथल–पुथल कई लोगों के लिए जीने के नए मौक़े भी लेकर आयी।

ऊपर कही गयी सारी बातों के बाद मैं अपने पुराने प्रश्न पर लौटूंगा कि एक इतिहासकार 'आधा गांव' का क्या करेगा या फिर यूं कहें कि हम 'आधा गांव' के बहाने साहित्य और खास तौर पर नॉवल का क्या करेंगे? एक इतिहासकार किसी भी स्त्रोत को पढ़ते समय उसमें वह तो ढूंढता ही है जो वह नहीं जानता बल्कि उसका अपना ज्ञान भी उस स्त्रोत को पढ़ते समय उस पर हावी होता है और वह उस रीडिंग में वह सब भी डाल देता है जो वह जानता है। 'आधा गांव' के साथ भी समीक्षकों और इतिहासकारों ने ऐसा ही किया है। मुशिर–उल हसन, ने 'आधा गांव' को देश में होने वाली घटनाओं का सूक्ष्म रूप माना है और एक ऐसे समुदाय के रूप में देखा है जहाँ साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद की भावना कहीं बाहर से आती है और लोगों की रोजमर्रा की जिन्दगी से मेल नहीं खाती। आलोक भल्ला ने भी अपने लेख में फुन्नन मियाँ को एक सही भारतीय नागरिक माना है, जो अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु है। कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जो इतिहास के लिये खुला न हो। यह बात सही है कि साहित्य एक फिक्शन है और इतिहास फिक्शन नहीं है। साहित्य की अपनी भाषा है जो पात्रों के अनुसार सृजित की जाती है। उसमें अपनी कल्पनाशीलता है और अपनी आन्तरिक अर्थवत्ता (Internal Economy) भी। इतिहास अतीत को दर्ज

करता है। साक्ष्यों एवं तथ्यों की इतिहास के अनुशासन में अपनी भूमिका है। जब हम इतिहास के अनुशासन में बंध कर कोई शोध करते हैं तो केवल हम अतीत को दर्ज ही नहीं करते बल्कि उसे पुनर्निमित और पुनर्प्रस्तुत भी करते हैं। साहित्य भी अपने ढंग से अतीत का पुनर्निमाण और पुनर्प्रस्तुतिकरण करता है। इसलिये इतिहास और साहित्य दोनों में अन्तराल तो है लेकिन ऐसा भी नहीं जो सुलझाया न जा सके। अंततः यह ज़िम्मेदारी इतिहासकार की ही होती है कि वह किन सवालों से जूझ रहा है। यदि वे ऐसे सवालों से जूझ रहा है जिसके लिये साक्ष्य नहीं है तो फिर उसे इतिहास के नए स्रोत ढूंढने होंगे। नए कर्ताओं को स्थापित करना होगा और इतिहास लेखन की नयी शैलियाँ गढ़नी होंगी। यहीं इतिहासकार साहित्यिक स्रोतों और खासतौर पर आज के समय के उपन्यास की तरफ मुड़ता है। रोजमर्रा की ज़िन्दगी का इतिहास, सूक्ष्म एवं स्थानीय इतिहास, समुदायिक इतिहास, उथल–पुथल के समय की अनिश्चितताओं, संभावनाओं, आशाओं–निराशाओं, पीड़ाओं आदि का इतिहास ऐसे ही कुछ मुद्दे हैं जहाँ साहित्य हमारी मदद करता है।

बात खत्म करते समय यह अच्छा होगा कि मैं उन सवालों और शंकाओं की चर्चा ज़रूर करूं जो 'आधा गांव' पढ़ते समय मेरे दिमाग में उठती रही हैं। क्या 'आधा गांव' असाधारण दिनों में रोज़ाना के कार्यकलाप चलते रहने की कहानी है या फिर ये ऐसी ज़िंदगी की कहानी है जो साधारण और असाधारण दोनों किस्म के दिनों में चलती रहती है। राही मासूम रज़ा के इन पात्रों को आज़ादी ने ज़्यादा प्रभावित किया है या बंटवारे ने? क्या केवल दो ही किस्म के अनुभव हैं और उन अनुभवों की जगह कहाँ हैं जो दोनों ही खाँचों में फिट नहीं बैठते? बंटवारा कब तक और कितनी याद रखने की चीज़ है और कितनी भुला दिए जाने की? लेखक जिस नये युग की घोषणा करता है उसमें कितना परिवर्तन है और कितनी निरंतरता। क्या एक इतिहासकार अपने तथाकथित साक्ष्यों के प्रयोग से इतनी एथनोग्राफिक (Ethnographic) और गहरी कृति लिख सकता है। जो किसी गांव समुदाय के अंदर की तमाम पेचीदगियों, परेशानियों और शक्ति समीकरणों को समेट सके?

मेरे लिये 'आधा गांव' एक घोषणा है गंगो–जमुनी संस्कृति में आस्था की और साम्प्रदायिक ताकतों के रचनात्मक विरोध की। विशेषकर उस समय में जब पुनरुत्थानवादी ताकतें सत्ता में बैठकर समाज के हर पहलू के साथ छेड़छाड़ करना चाहती हैं। "जनसंघ का कहना है कि मुसलमान यहाँ के नहीं हैं, मेरी क्या मजाल कि मैं उसे झुठलाऊँ। मगर यह कहना ही पड़ता है कि मैं गाज़ीपुर

का हूँ। गंगौली से मेरा संबंध अटूट है, वह एक गांव ही 'नहीं' है, वह मेरा घर भी है। घर! यह शब्द दुनिया की हर बोली और भाषा में है और हर बोली और भाषा में यह उसका सबसे खूबसूरत शब्द है। इसलिए मैं उस बात को फिर दुहराता हूँ कि मैं गंगौली का हूँ क्योंकि वह केवल एक गांव ही नहीं है क्योंकि वह मेरा घर भी है।

सन्दर्भ सूचीः

1. डॉ. कुँवरपाल सिंह, 'आधा गांव : भावी भारत की धुंधली तस्वीर', अभिनव कदम (6-7), (राही मासूम रज़ा केन्द्रित), अक्तूबर 2002, पृष्ठ 231.
2. भगवान सिंह, समय की सलवटें और आधा गांव, अभिनव कदम (6-7), अक्तूबर 2002, पृष्ठ 475.
3. राही मासूम रज़ा, आधा गांव, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1966 ; पुनर्मुद्रित 1995.
4. जिलीन राईट, फ्यूडिंग फेमिलिज़ ऑफ गंगौली (अँग्रेजी अनुवाद), पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली, 1995.
5. आलोक भल्ला, 'मेमोरी हिस्ट्री एण्ड फिक्शनल रीप्रजेन्ट्रेशन्स ऑफ पार्टिशन, इ.पी.डब्ल्यू, अक्टूबर 30, 1999.
6. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, रिमेमबरिंग पार्टिशन : वाइलेंस, नेशनलिज्म एण्ड हिस्ट्री इन इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 2001.
7. उर्वशी बुटालिया, दि अदर साईड ऑफ साइलेन्स, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली, 1998.
8. मुशिर–उल हसन, 'मेमोरिज ऑफ फ्रैगमेन्टेड नेशन : रीराइटिंग हिस्ट्रीज ऑफ इंडियाज पार्टिशन, इ.पी.डब्लयू., अक्तूबर 10, 1998.
9. मेघना गुहा ठाकुरता, 'अपरूटेड एण्ड डिवाइडीड' सेमिनार 510, फरवरी 2002.

श्री नरेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्रः 9999308530
ईमेल – naresh.rhythm@gmail.com

भाषा की 'अनस्थिरता' पर उठा ऐतिहासिक विवाद

द्विवेदी युग विवादों के घटाटोप से घिरा है। वैसे तो इस युग में अनेक विवाद हुए लेकिन भाषा की अनस्थिरता पर उठे विवाद का ऐतिहासिक महत्व है। पं0 महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित पत्रिका 'सरस्वती' के नवम्बर, 1905 अंक में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख का पहला भाग छपा था जिसकी कटु आलोचना 'भारत मित्र' में आत्माराम ने 10 लेखों में की थी, जिसके कारण पं0 महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'भारत मित्र' के संपादक बालमुकुंद गुप्त के बीच वैचारिक टकराहट उत्पन्न हुई। अब यह अनुमान नहीं बल्कि प्रमाणित सत्य है कि आत्माराम के छद्म नाम से 'भारत मित्र' के संपादक बालमुकुंद गुप्त ने ही द्विवेदीजी के लेख की आलोचना की। आलोचना–प्रत्यालोचना का यह सिलसिला लंबा चला जिसमें दोनों ओर से समर्थन और विरोध में लेख लिखे गए।

यह देखना दिलचस्प होगा कि महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित लेख 'भाषा और व्याकरण' में ऐसा क्या था जिससे 'भारत मित्र' के संपादक बालमुकुन्द गुप्त (आत्माराम) विचलित हुए। इस लेख को पढ़ने से पता चलता है कि इसमें हिंदी भाषा और उसके व्याकरण पर विचार किया गया है। द्विवेदीजी के अनुसार,'शब्दों के समूह का नाम भाषा है। शब्दों के उत्पन्न होने के बाद व्याकरण उत्पन्न होता है। पहले शब्द, तब अनुशासन–पहले साहित्य, तब व्याकरण। पाणिनि का एक सूत्र है–'अथ शब्दानुशासनम्'। इसका नाम है अधिकारसूत्र। यहां 'अनुशासन' में जो 'अनु' उपसर्ग है, वह इस बात को सूचित करता है कि शब्दों के अनंतर उनका शासन किया गया है। अर्थात पाणिनि ने सदा के लिए शब्दशास्त्र नहीं बनाया, किन्तु उनके समय तक शब्दों के जैसे प्रयोग होते थे, उन्हीं का उन्होंने अनुधावन किया है–उन्हीं के प्रयोग–संबंधी नियम उन्होंने बना दिए हैं।'

जहां तक व्याकरण का सवाल है द्विवेदीजी ने लिखा, 'व्याकरण वह शास्त्र है, जिससे शब्दों और वाक्यों के परस्पर संबंध के अनुसार अपेक्षित अर्थ जानने के नियम होते हैं। अथवा यों कहिए कि जिसके अध्ययन से ठीक–ठीक लिखना और बोलना आता है। पर हम देखते हैं कि अशिक्षित देहाती व्याकरण नहीं पढ़े होते, तथापि उनकी भी बोली लोग समझ लेते हैं। अथवा, स्त्रियां और बालक एक दो ही पुस्तक पढ़कर, बिना व्याकरण पढ़े ही, पत्र लिखने लगते हैं और उनके लिखने का मतलब हम लोग समझ लेते हैं। बोलने और लिखने का

मतलब सिर्फ इतना ही है कि जो कुछ बोला या लिखा जाए, वह दूसरे की समझ में आ जाए।'

इससे स्पष्ट है कि द्विवेदीजी व्याकरण को भाषा के विकास में वाधा नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में व्याकरण की आवश्यकता सिर्फ इसलिए है कि नियम रचना के द्वारा सब प्रान्तों के लिए एक सी भाषा संघठित करें। व्याकरण की सहायता से भाषा में स्थिरता आ जाती है। वह अधिक दिन तक जीवित रहती है। अपने इसी लेख में आगे उन्होंने लिखा, 'बहुत समय से हिंदी भाषा लिखी जाती है, पर उसका एक भी सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नहीं बना। फल इसका यह हुआ है कि पचास वर्ष की पुरानी भाषा आजकल की भाषा से नही मिलती। यहां तक कि वर्तमान समय में भी एक ही वाक्य को एक लेखक एक तरह लिखता है, दूसरा दूसरी तरह तीसरा तीसरी तरह। एक अखबार की भाषा दूसरे की भाषा से नहीं मिलती और दूसरे की तीसरे की भाषा से। इससे क्या हुआ है कि भाषा को अनस्थिरता प्राप्त हो गई है।' इसी 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर यह विवाद उठा था। लेकिन इस विवाद की भी एक पृष्ठभूमि है। इस विवाद के पूर्व पं0 महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'खिलौना' नामक पुस्तक की आलोचना की थी। यह पुस्तक बालमुकुन्द गुप्त की ही लिखी हुई थी लेकिन उस पर उनका नाम नहीं छपा हुआ था। लेकिन द्विवेदीजी को इस बात की जानकारी देने वाले पं0 श्रीधर पाठक (जो द्विवेदीजी के ही नहीं बल्कि बालमुकुन्द गुप्त के भी मित्र थे) थे। यह बात महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली (खंड 1) के पृ0 325 पर इसके संपादक भारत यायावर ने स्पष्ट की है।

बालमुकुन्द गुप्त लिखते हैं, 'एक बार हमारे एक कृपालु ने किसी एक छोटी सी पोथी की एक छोटी सी कविता में कुछ दोष दिखाया था। 'भारत मित्र' में एक सज्जन ने उसका उत्तर देकर आलोचक को होश दिलाया कि आपकी आलोचना ठीक नहीं। आप उस लेख को पढ़कर बेताब हो गए। उसके उत्तर में फिर कुछ लिखा और फिर कुछ सुना। उन्हीं के किसी एक मित्र ने उन्हें खबर दी कि वह पोथी 'भारत मित्र'—संपादक की लिखी हुई है, आपने उस पर छेड़—छाड़कर अच्छा न किया। कृपालुजी ने झट एक माफीनामा लिखा कि मुझे मालूम न था, वह आपकी बनाई पोथी है, नहीं तो मैं कभी ऐसा अनुचित काम न करता। पोथी मित्र की हो या शत्रु की— अपने की ही हो या बेगाने की, आलोचना उसकी न्याय से होनी चाहिए। यह तो कोई बात नहीं कि मित्र की हो तो उसकी प्रशंसा की जाए और शत्रु की हो तो निन्दा। इतनी अनुदारता

लेकर साहित्य के मैदान में कभी आगे न बढ़ना चाहिए। ऐसी दुर्दशा हिंदी में आलोचना की है।'

आत्माराम ने भाषा की अनस्थिरता शीर्षक से 'भारत मित्र' में क्रमशः 10 लेख लिखे जिसमें द्विवेदीजी पर आक्रामक प्रहार किए गए। इस लेख का आरंभ देखिए–'जो लोग समझते थे हिंदी भाषा एकदम लावारिस है, कोई उसका मुरब्बी या सरपरस्त नहीं–वह यह खबर सुनकर खुश होंगे कि वास्तव में उक्त भाषा माता–पिता विहीन नहीं है। गत नवम्बर मास की 'सरस्वती' के देखने से विदित हुआ है कि उक्त पत्रिका के संपादक पं0 महावीरप्रसाद द्विवेदीजी हिंदी भाषा के संरक्षक या वारिस दो में से एक कुछ हुए हैं। इसके लिए हिंदी के प्रेमियों और द्विवेदीजी महाराज को हम बधाई देते हैं।' आत्माराम की आत्मा कितनी बेचैन है वह इस लेखमाला के वाक्यों से ही नहीं शब्द से भी प्रकट है। यहां तक कि भाषा में कटोक्ति और व्यंग्योक्ति भी है। उदाहरण के लिए, 'यदि द्विवेदीजी सामने होते, तो पूछते कि महाराज! यह जो आपने गड्डमड्ड कई एक वाक्य आगे–पीछे मियां मदारी के गोलों की भांति उगल दिए हैं, इसका कुछ सिर–पैर है या खाली हिंदी वालों को हैरान करने के लिए यह लीला दिखाई है। कृपा करके यह तो बताइए कि पाणिनि के सूत्र के अर्थ से आपके उपर वाले वाक्यों में से सबसे पिछले वाक्य का क्या संबंध है ?' इस लेख के अंत में आत्माराम ने लिखा, 'ईश्वर का धन्यवाद है कि 'अनस्थिरता' आ गई है न कहा। खैर, अब द्विवेदीजी अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध करें और अपने राम उनके लिए एक और लेख तैयार करें।'

आत्माराम ने द्विवेदीजी द्वारा प्रयुक्त अनस्थिरता शब्द को रबर की तरह इतना खींच दिया कि वह अपने असली रूप अस्थिरता में स्थिर हो गया। आत्माराम ने लिखा, 'द्विवेदीजी घबराते हैं कि हिंदी भाषा में सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नहीं बना। इससे पचास साल की पुरानी भाषा आजकल की भाषा से नहीं मिलती। इससे बड़े दुख के साथ आप फरमाते हैं–''इससे क्या हुआ है कि भाषा को अनस्थिरता प्राप्त हो गई है। और बहुत संभव है कि यदि यही दशा बनी रही तो आज से सौ वर्ष बाद के लोग आजकल की भाषा के बहुत से वाक्यों को न समझ सकेंगे।''दरअसल यह पूरा विवाद हिंदी भाषा और उसके व्याकरण पर केन्द्रित है। द्विवेदीजी के लेख 'भाषा और व्याकरण' में शब्दों, वाक्यों के गठन पर ही आत्माराम ने अपनी कैंची नहीं चलाई है बल्कि द्विवेदीजी की विद्वता और उनकी समझ पर भी उंगली उठाई है। दिलचस्प बात यह है कि

बाबू बालमुकुन्द गुप्त द्विवेदीजी को छापते भी थे फिर भी किसी गलतफहमी के कारण यह दुखद विवाद उठा।

चूंकि 'भारत मित्र' कलकत्ता से प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक पत्र था इसलिए इसके संपादक गुप्तजी को हर सप्ताह लिखने की छूट थी और उन्होंने पत्र के 10 अंकों में लगातार इस विवाद को जारी रखा। गौर करने पर यह पता चलता है कि दोनों के बीच आपसी सौहार्द और हार्दिकता की कमी नहीं थी क्योंकि आदर सूचक संबोधन का इस्तेमाल होता था। गुप्तजी का यह वाक्य देखिए–'द्विवेदीजी आंधी की भांति उठते हैं, किन्तु धूल की भांति गिरते हैं।' गुप्तजी ने द्विवेदीजी को भाषा के कठघरे में इस कारण भी खड़ा किया है कि उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चंद्र और राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की भाषा पर भी रंदा चलाया है। इसी लेख में वे लिखते हैं, 'द्विवेदीजी में एक विशेष गुण है। अब तक प्रकृति ने इस गुण से हिंदी सुलेखकों को वंचित ही रखा था वह गुण यह है कि जहां तक हो सकता है, आप हिंदी के लेखकों के विज्ञापनों की भूल पकड़ते हैं। विज्ञापन न मिलने से उनकी पुस्तकों पर हाथ डालते हैं, नहीं तो नहीं।'

इस लेख में द्विवेदीजी को उद्धृत किया गया है, 'द्विवेदीजी आज्ञा करते हैं–''हिंदी की अनस्थिरता के दो एक उदाहरण और देकर हम इस लेख को समाप्त करना चाहते हैं। नीचे के वाक्यों को देखिए। उन्हें एक अखबार से हम नकल करते हैं–

1–आपको भी इस विषय में लेखनी उठानी चाहिए।

2–इसके लिए शिक्षा लेनी होगी।

3–वह लोग + + + जड़ी–बूटियां इक्टठी करते थे।

ये सब कर्तष्वाच्य प्रयोग हैं। कर्तृवाच्य में क्रिया कर्त्ता के अनुकूल होती है। यह बात पहले उदाहरण में है। पर दूसरे उदाहरण में क्रिया का उत्तर भाग (होगी) कर्म शिक्षा के अनुकूल है। और तीसरे उदाहरण में क्रिया का पूर्व भाग (इकट्ठी) कर्म जड़ी बूटियों के अनुकूल है। कहीं कर्म के अनुकूल कहीं कर्त्ता के। कहीं क्रिया का पहला टुकड़ा स्त्रीलिंग हो गया, कहीं दूसरा।''

'भारत मित्र' और 'सरस्वती' के पृष्ठों पर यह विवाद सन् 1906 में हुआ। आत्माराम की टिप्पणी का जबाव द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में दिया। 01 जनवरी,1906

की 'सरस्वती' में द्विवेदीजी ने बालमुकुन्द गुप्त की आत्माराम वाली टिप्पणियों पर कल्लू अल्हैत छद्म नाम से 'सरगो सरग ठिकाना नाहीं' कविता लिखी थी इस विवाद में हिंदी के कई लेखकों ने भाग लिया। 'आत्माराम की 'टें' 'टें' शीर्षक से गोविन्दनारायण मिश्र ने नौ खंडों में एक लंबा लेख लिखा जिसमें आत्माराम को निशाना बनाया गया है। लिखते हैं, 'आत्माराम' ने 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेख की सबसे बड़ी भूल 'अनस्थिरता' ही पकड़ रखी है मानो भाग्यवश आत्माराम के हाथ बड़ा भारी ब्रहास्त्र ही विचारे ब्राहण के विध्वंस करने कों आ लगा हो। ' जिस तरह यह लेख लिखा गया है उससे साफ पता चलता है कि गोविन्दनारायण मिश्र से द्विवेदीजी ने ही यह लेख लिखवाया था। चूंकि आत्माराम की टिप्पणी 10 खंडों में छपी थी उसी तरह यह लेख 10 खंडों में लिखने की योजना थी। 09 खंड के बाद इस लेख के अंत में लिखा हुआ है अपूर्ण यानी दसवां खंड नहीं लिखा जा सका। अपने भरसक गोविन्दनारायण ने इस लेख को निष्पक्ष बनाने की कोशिश की है, 'आत्माराम और द्विवेदीजी के इस झगड़े में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि, आत्माराम सिर काटकर बालों की रक्षा करने का प्रयास और यथार्थ में व्याकरण का जड़ काटने वाला है। परन्तु द्विवेदीजी की कहीं–कहीं कुछ भूलें भी हैं, तथापि व्याकरण को सर्वांग सम्पन्न बनने के मूल सिद्धांत पर सुदृढ़ हैं। भाषा के हितेषी मात्र का इसलिए ही द्विवेदीजी का पक्ष लेना न्यायनुमोदित है। द्विवेदीजी ने यह तो कहीं नहीं लिखा कि मेरे अनुशासन अनुसार व्याकरण की रचना हो या मैं जो कुछ लिखूं उसे वेद–वाक्य ही मानो। बार–बार विनयपूर्वक द्विवेदीजी भाषा की व्याकरण, विषयिणी त्रुटियों पर हिंदी हितैषियों का ध्यान आकर्षण कर प्रार्थना करते आते हैं कि उत्तम सर्वांग सुंदर व्याकरण का बनना परम आवश्यकीय है और एक ही नियम अनुसार हिंदी की लेख–प्रणाली का सुयन्त्रित होना भी प्रार्थनीय है।'

इस विवाद के अंत में 'भारत मित्र' के संपादक बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारत मित्र' के सन् 1906 के अंक में 'आलोचना–प्रत्यालोचना' शीर्षक से टिप्पणी 'व्याकरण विचार' में यह भ्रम दूर करने की कोशिश की कि 'भारत मित्र' के संपादक बालमुकुन्द गुप्त आत्माराम नहीं हैं। लेकिन आत्माराम के पक्ष में जिस आत्मीयता और हार्दिकता के साथ उन्होंने सफाई देने की कोशिश की है उससे पता चलता है कि आत्माराम के छद्म नाम से उन्होंने ही लिखा है। यह वाक्य देखिए–'पं0 महावीरप्रसाद द्विवेदी स्वयं बड़े भारी आलोचक होने का दावा रखते

हैं। आत्माराम ने तो आलोचना के केवल दस लेख ही लिखे हैं, द्विवेदीजी ने बड़ी–बड़ी पोथियां बना के डाल दी हैं। लाला सीताराम की पोथियों की आप बहुत कुछ आलोचना कर चुके और किए जाते हैं, यहां तक कि उन आलोचनाओं की आप पोथियां तक छपवा चुके हैं। केवल इतना ही नहीं, संस्कृत के स्वर्गीय पंडितों की भी आलोचना आपने की है और पोथियां रच डाली हैं।' यही नहीं साथ ही आत्माराम ने द्विवेदीजी की बहुत सी भूलें दिखाई हैं, जिनमें से दो–तीन मोटी–मोटी भूलें यह हैं–'अनस्थिरता' ठीक नहीं, द्विवेदीजी 'मुहाविरा' लिखते हैं, जिसका उच्चारण वह नहीं है जैसा वह लिखते हैं और बहुत बातें बताई हैं, जिनका अभी कुछ उत्तर नहीं मिला है। पर हम देखते हैं कि उनके कुछ तरफदार जामे से बाहर हो गए हैं। वह 'भारत मित्र'–संपादक को आत्माराम समझकर गालियों से प्रसन्न करने लगे हैं।'

यद्यपि यह विवाद दुखद है फिर भी इस दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्व है कि हिंदी भाषा और व्याकरण पर इन दो महारथियों की टक्कर से शोरगुल तो बहुत हुआ लेकिन हिंदी का बहुत भला हुआ। हमें याद रखना चाहिए कि खड़ी बोली हिंदी का यह शैशवकाल था और इस वैचारिक असहमतियों के कारण हिंदी आलोचना का भी विकास हुआ। हिंदी के प्रसिद्ध समालोचक डा0 रामविलास शर्मा ने 'शैलीकार बालमुकुन्द गुप्त' जो लेख लिखा है, उसका आरम्भिक वाक्य है–'रायकृष्णदासजी ने जब आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से पूछाः आपकी राय में सबसे अच्छी हिंदी कौन लिखता है ? तब उन्होंने उत्तर दियाः अच्छी हिंदी बस एक व्यक्ति लिखता था–बालमुकुन्द गुप्त।'

संदर्भ सूचीः

1– महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली (खंड 1) संपादक भारत यायावर

2– 'सरस्वती'

3– 'भारत मित्र'

डॉ0 साधना अग्रवाल
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्रः 9891349058

'निरुक्त' के परिप्रेक्ष्य में भाषा परिवर्तन

मानव का समस्त कार्यव्यापार भाषा पर अवलम्बित है। व्यक्त वाक् (भाषा) के बिना मनुष्य और पशु एक समान हैं। आचार्य दण्डी तो भाषा को लोकदीपक मानते हैंः–

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत् भुवनत्रयम्।
यदि श्ब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[1]

भाषाविज्ञान भाषा का सांगोपांग विवचेन करता है।[2] इसे आधुनिक रूप में लाने का श्रेय संस्कृत भाषा को है। यूरोपीय विद्वानों ने भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों की विवेचानात्मक शैली आचार्य यास्क और पाणिनि से ही पाई है। विश्लेषणात्मक शक्ति के कारण भाषाविज्ञान की विभिन्न शाखाएँ हैंः–

शाखा	विषय
1. ध्वनिविज्ञान (Phonology)	- ध्वनि की उत्पत्ति, श्रोता–वक्तासंबंध, ध्वनि– विकास, ध्वनि परिवर्तन आदि
2. रूपविज्ञान (Morphology)	- शब्दों के भेद, उनके विचार, रूप–परिवर्तन, समास रचना आदि।
3. अर्थविज्ञान (Semantics)	- शब्दों के अर्थ, अर्थपरिवर्तन, उसके कारण एवं दिशाएँ इत्यादि।
4. वाक्यविज्ञान (Syntax)	- वाक्य रचना (शब्दों का स्थान निर्धारण वाक्य में) अर्थभेद इत्यादि।
5. निर्वचनशास्त्र (Etymology)	- शब्दों की उत्पत्ति एवं उनका इतिहास।

'निरुक्त' षड्वेदांगों में से एक है। यह वेदरूपी पुरुष का श्रोत्र (कान) है।[3] इसमें वैदिक शब्दों के अर्थ जानने की प्रक्रिया बतलाई जाती है।

'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्'।[4]

आचार्य यास्करचित 'निरुक्त' वेद के अन्तरंग से सम्बंध रखता है। यह भाष्यशैली के गद्य में है जिससे वेद मंत्रों के अर्थावगम में सहायता मिलती है।

'निघण्टु के पाँच अध्यायों की व्याख्या यास्क ने 12 अध्यायों में की है, दो अध्याय परिशिष्ट रूप में हैं।

निरुक्त शब्द की व्युत्पत्ति बतलाता है जिससे भाषा–विज्ञान के लक्ष्य (शब्द के मूल का ज्ञान) की प्राप्ति में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से यास्काचार्य प्रथम भाषाशास्त्री हैं। ये प्रत्येक शब्द को आख्यातज[5] मानते हैं। अर्थज्ञान के लिये वे उस शब्द से सम्बद्ध धातु तथा उसके अर्थ ज्ञान का आश्रय लेते हैं– यही निरुक्त की आधारशिला है, भाषाविज्ञान का मूल है तथा इसी पर पाणिनि का समस्त प्रस्थान अवलम्बित है। प्रो. मैक्समूलर भी उनके समर्थक प्रतीत होते हैं–

".... Yaska mantains that every noun is derived from a verbal root and meets the various objections raised against it, a theory on which the whole system of Panini is based and which is intact, the postulate of modern Philosophy"[6]

भाषोत्पत्ति के विषय में यास्क का मत है– 'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्।'7

अर्थात् वस्तुओं का नाम संसार में व्यवहार के लिए रखा गया है क्योंकि वस्तुओं को पहचानने या बतलाने की अन्य प्रणालियाँ (संकेत करना, वस्तु को ही सामने रख देना आदि) कष्टसाध्य है, शब्द की सरलता से वस्तुओं का द्योतन किया जा सकता है, इसलिए शब्द के द्वारा ही उसका नाम सुविधा के लिये रखा जाता है।

शब्दों को आख्यातज मानने पर कुछ दोष परिलक्षित होते हैं फिर भी धातुज सिद्धान्त बहुत महत्त्व का है। शब्दों की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध भले ही मूल प्राचीन भारतीय भाषा में प्राप्त न हो किन्तु दूसरी भारत–यूरोपीय भाषाओं में प्राप्त है।

डॉ॰ सिद्धेश्वर वर्मा का कहना है–

"The theory of Akhyataj, however, disastrous in many respects, has an palliating feature in the fact that most of the derivations relate only to those words for which relations or origin though not available in old Indo-Aryan are to be found in other Indo-European Languages."[8]

संसार अनित्य एवं परिवर्तनशील है। भाषा निरन्तर प्रवाहशील गतिशील रहने वाली चीज़ है। भाषा का प्रयोक्ता व्यक्ति और उसका समाज परिवर्तित होता रहता है। अतः उसके साथ–साथ उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा भी परिवर्तित होती रहती है; यथा–

स्वर परिवर्तन (Accent shifting)

अंग्रेज़ी में	Run	-	Ran
	Come	-	Came
संस्कृत में	या	-	यात
	गम्	-	गात

भाषापरिवर्तन ध्वनि (स्वन), शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ–इन पाँच स्तरों पर होता है।

1. ध्वनि – (क) ध्वनि परिवर्तन (Sound changes)
   (ख) स्वनप्रक्रिया परिवर्तन (Phonological change)
2. शब्द – (क) शब्दसमूह परिवर्तन (Change in vocabulary)
3. रुप – (क) रुप–परिवर्तन (Change in Morph)
   (ख) रुप प्रक्रिया परिवर्तन (Morphological Change)
4. वाक्य – वाक्य रचना परिवर्तन (Syntactical change)
5. अर्थ – अर्थपरिवर्तन (Semantic change)

आचार्य यास्क के अनुसार वर्णागम, वर्णविपर्यय (Metathesis), वर्णविकार (Change of syllable), वर्णनाश (Elision of syllable) तथा अर्थानुसार धातु से रूप की कल्पना– इन पाँच की सहायता से भाषा में परितर्वन होता है।

'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्।।[9]

संस्कृत के किसी शब्द का निर्वचन करने के लिये ध्वनिविकार के ये सिद्धान्त भाषाविज्ञान को भी मान्य हैं।

दुर्गाचार्य के अनुसार–

'भवेद् वर्णागमाद् हंसो सिंहो वर्णविपर्ययात्
गूढोत्मा वर्णविकृतेः वर्णनाशात्पृषोदरम्।।[10]

जबकि हिन्दी भाषा में ध्वनि परिवर्तन[11] के विभिन्न कारण हैं, यथा मुखमुख (प्रयत्नलाघव), भ्रामक व्युत्पत्ति, सादृश्य, शब्दसमूह परिवर्तन का आधार, समीकरण, विषमीकरण, घोषीकरण, अघोषीकरण, अल्पप्राणीकरण, महाप्राणीकरण, दीर्घीकरण, विपर्यय, विषमीकरण, आगम, लोप इत्यादि। उदाहरणस्वरूप–

चक्र	–	चक्कर (समीकरण)	शुष्क	–	सूखा (महाप्राणीकरण)
आभीर	–	अहीर (ह्रस्वीकरण)	पूर्व	–	पूरब (लोप)
दुग्ध	–	दूध (दीर्घीकरण)	स्थाली	–	थाली (लोप)
कंकण	–	कंगन (घोषीकरण)			

इसकी स्वनिम परिवर्तन व्यवस्था भी भिन्न हैं। यथा–

दश	–	दस
सार	–	शार
ताक (देख)	–	ताक (दीवाल का आला, इत्यादि)

अर्थपरिवर्तन के भी विभिन्न कारण हैं, यथा– बल का अपसरण (shift of Emphasis), वातावरण में परिवर्तन, नम्रता प्रदर्शन, अन्य भाषा में गमन, जानबूझकर नए अर्थ में प्रयोग इत्यादि। भाषा परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि यास्क के निर्वचन की आधारशिला है कि कोई भी ध्वनि किसी भी ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो सकती है। यद्यपि यह भाषाविज्ञान के ध्वनि नियमों के विरुद्ध है तथापि वैज्ञानिक है; उदाहरणार्थ–

स्वर विकार के विभिन्न रूप–अपश्रुति (Ablaut)

(क) प्रथम विकार (गुण विकार ह्रसित क्रम Reduced grade or Vollstufe)

गुण–इ उ ऋ (वि–पक्षी वेतेः गतिकर्मणः विरवेति)

(ख) द्वितीय विकार (वृद्धिविकार/सामान्य क्रम) Lengthened grade

वृद्धि– ए ओ अर् (विश्व– वैश्व, भग– भगानि)

(ग) तृतीयविकार (सम्प्रसारण)

सम्प्रसारण– ऐ औ आर् (विद्युत– वैद्युतः)
(उत्तम– औत्तमिकानि)
सवितृ– सावित्राणि
प्रथ– पृथुः
यज्– इष्टः इत्यादि।

संप्रसारण वाले धातुओं के दो रूप होते हैं–

(क) अपना (बिना संप्रसारण के)
जैसे– युज्–यष्टा, यष्टुं, यष्टव्यम्

(ख) सम्प्रसारण का
जैसे– इष्ट इष्टि इष्टिवान् आदि।

ध्वनि परितर्वन– आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार ध्वनि परिवर्तन[12] दो प्रकार के हैं–

(क) स्वयं उत्पन्न (Unconditional) जैसे– अश्रु–आँसू, हृदय–हिया, पुष्कर–पोखर, मूल्य–मोक, पिण्ड–पेड़ा इत्यादि

(ख) परोत्पन्न (Conditional)

जैसे–

(1) वाग्यन्त्र (Physiological) या श्रवणेन्द्रिय (Acoustics) की विभिन्नता

(2) सादृश्य (Analogy)

(3) स्वराघात (Accent) भौगोलिक प्रभाव इत्यादि।

आदिस्वरलोप (Aphesis)

अथापि अस्तेः निवृत्तिस्थानेषु भवति। जैसे– अस्– स्तः सन्ति।

यहाँ 'अ' का लोप स्वराघात के कारण होता है क्योंकि किसी स्वर पर विशेष बल (Stress) देने से दूसरे स्वर का उच्चारण लुप्त हो जाता है। 'स्तः' पर ज़ोर देना ही 'अ' के लोप का कारण है।

अंग्रेज़ी भाषा में, esquire > squire

मध्यस्वर लोप (Syncope) / उपधालोप; जैसे–

गम्– जग्मतुः जग्मुः।
राजन्– राज्ञा, राजा।
दा– दित्सति– इत्यादि।

सवर्ण लोप (Haplology)

प्रदत्त, अवदत्त से समानता के कारण प्रत्तम, अवत्तम (दा) में दकार का लोप हो गया है।[13]

मध्यस्वरागम / स्वरभक्ति (Anaplyxis / वर्णोपजन)

अस्– आस्थत्। स्वर्ण– सुवर्ण
भ्रस्ज– भरूजा। प्रसाद– परसाद।

वर्णविपर्यय / आद्यन्तविपर्यय (Metathesis)

श्चुत– स्तोकः।
सृज्– रज्जु।
कस्– सिकता।

समीकरण / आदिविपर्यय (Assimilation)

द्युत्– ज्योति।

विषमीकरण / अन्तव्याप्ति (Dissimilation)

हन्– घन्। गाह्– गाधः।

महाप्राणीकरण (Aspiration)

मद्– मधु
गृह– घर[14]

अल्पप्राणीकरण (Despiration)

भिद् > बिन्दु

भभूव– बभूव
हहार– जहार।[15]

रूपपरिवर्तन–

रूपविज्ञान के क्रम में इन्होंने शब्द या रूप रचना दो प्रकार का बताया है–

(क) धातु से निःसृत शब्द/कृदन्त।

(ख) इन बने हुए शब्दों से बने शब्द/तद्धितान्त।

अथ तद्धितसमासेषु एकपर्वसु न अनेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वम् अपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात् दण्ड्यः पुरुषः। दण्डमर्हति वा, दण्डेन सम्पद्यते इति वा। दण्डो ददतेः धारयतिकर्मणः।[16]

तत्पश्चात् रूपपरिवर्तन पर विचार किया गया है।

दण्डय्, तद्धितांश य् (दण्ड के योग्य होना, दण्ड से सम्पन्न होना)
'य', निकालने पर दण्ड शेष रहता है जो दद् (धारण करना) से बना है।

अर्थ परिवर्तन– यास्क का निर्वचन अर्थविज्ञान (Semantics or Semasiology) पर आधारित है। अर्थ के बिना शब्द निर्जीव, निरर्थक होता है। भारत में अर्थतत्व का अध्ययन 'निरूक्त' से प्रारंभ होता है। बाद में वैयाकरणों, नैयायिकों और मीमांसकों ने दार्शनिक दृष्टि से विचार कर इसे प्रौढ़ि पर पहुँचा दिया।

कभी कालक्रमवश, तो कभी पर्यायवाची, तो कभी विभिन्न गुणों के कारण अर्थपरिर्वन होता है, यथा–

मृग– पशुमात्र – हरिण (कालक्रमेण)
अर्थ– प्रयोजन, धन, अभिप्राय। (पर्यायवाची)
कर– किरण, हाथ, सूँड़। (पर्यायवाची)
चन्द्रमा– चन्द्र, हिमांशु, इन्दु, कुमुदबन्धु आदि। (गुणाधारित)

'पृथ्वी' का एक नाम 'गौ' है जो उसमें रहने वाले प्राणियों की गति का बोध कराता है तो 'पृथ्वी' से उनका विस्तार मालूम होता है। यास्क की दृष्टि से उपमा (सादृश्य), रूपक और तद्धित प्रयोग ही अर्थपरिवर्तन के मुख्य कारण हैं: यथा–सादृश्य कक्ष्या– घोड़े की रस्सी जो उसके (कक्ष) काँख से बंधी रहती

है। इसी घोड़े की काँख के सादृश्य से मनुष्य की काँख भी 'कक्ष' कहलाती है।[17] इसी प्रकार पाद (पशु के चार पैर) चौथाई हिस्सा का बोधक है।[18]

तद्धित प्रयोग जैसे– गौ–गो दुग्ध, सोम चुआने के लिए गोचर्म, गौ की ताँत, चर्बी आदि। गौ की ताँत का प्रयोग धनुष में होने के कारण धनुष भी 'गौ' कहलाता है।

अर्थादेश (Transference of meaning) के कारण 'गौ' से सूर्य, चन्द्रमा और सभी प्रकार की किरणों का बोध होने लगता है।

अपकर्ष और **उत्कर्ष** के कारण किसी शब्द का दो अर्थ होता है,19

यथा–कुचरः– कुत्सितः वन्यपशुः। (क्वायं न चरति सर्वगामी)
कुचरः– देवतावाची। क्व–कु

वाक्य परिर्वनः–

वाक्य के द्वारा ही भाषा के लक्ष्य (विचारों का आदान–प्रदान) की पूर्ति होती है। सभी भाषाओं की अपनी–अपनी वाक्य संरचना व्यवस्था/नियम हैं जिनमें व्यतिक्रम होने से वाक्य एवं उसके अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। निरुक्त के वाक्य अत्यन्त सरल हैं।

निर्वचनशास्त्र (Etymology) भी भाषाविज्ञान का अनिवार्य अंग है यद्यपि इनकी पृथक् कोई सत्ता नहीं है। ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान और अर्थविज्ञान के सम्मिलित प्रयोग से ही व्युत्पत्ति होती है।

20वीं शताब्दी में विभिन्न नए विज्ञानों की उत्पत्ति होने से निर्वचन (व्युत्पत्ति) का अर्थ भी बदल गया है। निर्वचन का अभिप्राय है– किसी शब्द से सम्बद्ध संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, भूगोल आदि का पता लगाना जिन–जिन स्थितियों में शब्द का परिवर्तन हुआ। भाषा–परिवर्तन ज्ञान का यह मुख्य आधार है। भाषा परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ प्रत्येक भाषा में अलग–अलग होती हैं फिर भी सरलीकरण, वियोगात्मकता, पृथकीकरण, विशदीकरण इत्यादि मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं... जबकि यास्क के अनुसार[20] लोप, आगम, वर्ण विकार आदि निर्वचन एवं भाषा परिवर्तन के मूल कारण हैं।

यथा– मेहना– मेह् (पूजा करना) से निर्मित शब्द

मे (मुझे), ह (यहाँ), ना (नहीं)।
दमूनाः – दया बुद्धिवाला/दान की प्रवृत्तिवाला/संयमी
दम् या दा धातु से निर्मित
दमस्– घर, दमूना– घर में प्रवृत्त
(वर्धमानं स्वे दमे)[21]

अपत्य– सन्तान (पिता से पृथक् होकर फैलता है तथा उसके कारण पिता नरक में नहीं पड़ते)।

व्यास शैली द्वारा अपत्य के भेदों (दत्तक, क्रीतक, कृत्रिम, औरस, आत्मज आदि) एवं उनका विवेचन किया गया है निरुक्त में।

भाषा परिवर्तन का एक कारण **लोकनिरुक्ति** भी है जिसका संकेत 'निरुक्त' में भी मिलता है, यथा– 'अङ्गिरस शब्द की उत्पत्ति 'अङ्गार' से माना जाता है। मूल भारोपीय भाषा में इसे Angiras तथा ग्रीक में Angellos (दूत) कहते हैं।

देवर – संस्कृत में द्वितीयवर
मूलभारोपीय भाषा में - Daiver
ग्रीक में - Daer (पति का भाई)

कारण तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था ऐसी थी जिसमें एक पत्नी सभी भाईयों की सम्पत्ति समझी जाती थी।

यास्काचार्य शब्दों से सम्बद्ध एक समान धातुओं का पता लगाकर उन सभी के योगफल से भी शब्द की निष्पत्ति का संकेत करते हैं।

यथा– कुब्ज शब्द
कुज् (टेढ़ा होना)
उब्ज् (नीचे जाना)

जबकि आधुनिक भाषाविज्ञान 'कुब्ज' शब्द में **सम्पृक्ति दोष प्रक्रिया (Contamination)** मानता है।[22]

सम्पृक्ति दोष वह है जब वक्ता के मन में एक साथ ही या अत्यंत निकट होकर विचार अथवा वाक्य–विन्यास उपस्थित होते हैं तब दोनों एक–दूसरे में विलीन होकर एक–दूसरे को दूषित (भग्न) कर डालते हैं। जैसे Camel (ऊँट) और

चीता (Leopard) के संयोग से Cameleopard (एक ऐसा जन्तु जिसमें ऊँट–सी गर्दन और चीते–सी छाप हो)। इसका दूसरा उदाहरण है– Bruch शब्द जो Breakfast और Lunch दोनों का एक साथ भोजन अर्थ को अभिव्यक्त करता है। कैम्ब्रीज के विद्यार्थी 'Bruch' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी तरह 'कुब्ज' शब्द भी कुज् और उब्ज् के संपृक्ति दोष से हुआ है– यह यास्क की मान्यता प्रतीत होती है। इसी प्रकार Eurasia, Pastime आदि शब्द है।[23]

भाषा परिवर्तन में **अर्थसंकोच (Contraction of meaning)** और **अर्थविस्तार (Expansion of meaning)** का अत्यंत महत्व है। यास्कप्रणीत 'निरुक्त' से इसके बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा– अग्नि– इ(अ)– अञ्ज या दह् (ग) नी (नि) इस प्रकार तीन धातुओं से 'अग्नि' के तीन अक्षर बने हैं।

निष्कर्षः–

'निरुक्त' चतुर्दश विद्यास्थानों में से एक है।

पुराणन्याय मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानिविद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।[24]

यह व्याकरण का पूरक है। व्याकरण जहाँ शब्दों की रचना (बहिरंग) की व्याख्या करता है वहीं निरुक्त उनके अर्थ (अन्तरंग) की खोज करता है। इसके द्वारा अर्थज्ञान की महत्ता घोषित होती है जो भाषापरिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जिस समय भाषा विज्ञान का बीज–वपन भी नहीं हुआ था उस समय निरुक्तकारों[25] ने तथाकथित भाषाविज्ञान के अनेक मौलिक सिद्धान्तों को उद्घोषित एवं प्रचारित किया था। प्राचीन आर्यभाषा को समझने के लिये निरुक्त अपने विचारों का अद्भुत प्रतिनिधि ग्रंथ है जो पाणिनि का भी पथप्रदर्शक रहा है।

आधुनिक भाषाविज्ञान पाणिनि और यास्क इन दोनों महर्षियों पर अवलंबित है जो अंधकार में पथभ्रष्ट होने से बचाकर मार्ग पर लाते हैं। भाषाविज्ञान को भाषाशास्त्र के अद्यतन विकास के परिप्रेक्ष्य में यास्क में कई त्रुटियाँ प्रतीत होंगी, पाणिनि में अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिकता मिल सकती है तथापि निर्वचन सिद्धान्तों तथा निरीक्षणों की पार्श्वभूमि में यदि हम उनकी समीक्षा करें तो कहीं भी स्खलन नहीं मिलेगा। वास्तव में भाषा परिवर्तन के अध्ययनार्थ 'निरुक्त' की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. काव्यादर्शः दण्डी 1/4
2. भाषायाः विशिष्ट ज्ञानं भाषाविज्ञानम्।' – डॉ॰ देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ॰ 176
3. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
   ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
   शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
   तस्मात्साङ्मधीत्येव ब्रह्मलोके महीयते।।
   –पाणिनि शिक्षा (41–42)
4. ऋग्वेदभाष्यभूमिकाः सायणाचार्य
5. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरूक्त समयश्च। निरूक्त 1/12
   नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। (महाभाष्य)
   श्लेषमादि शब्दयोनिश्च धातवः। (अमरकोष 3/365)
6. History of Ancient Sanskrit literature: Prof. Maxmuller, Page-16.
7. निरुक्तः प्रथमाध्याय
8. Elymologies of Yaska: डॉ॰ सिद्धेश्वर वर्मा, पृष्ठ–25
9. काशिका 6/3/109
10. दुर्गाचार्य
11. यथा–वाराणसी–बनारस (विपर्यय)
12. Introduction to comparative Philology: Dr. P.D. Gune, Page- 10-56
13. अच उपसर्गात्तः (पणिनिसूत्र 7/4/47)
14. एकाचो बशो भष् झयन्तस्य स्ध्वोः (पाणिनि सूत्र 8/2/37)
15. झलां जश्झशि (पा॰सू॰ 8/4/53), झलां जशोऽन्ते (पा॰सू॰ 8/2/39) तथा अल्प्राणीकरण का ग्रैसमैन का सिद्धान्त जिसमें एक धातु में केवल एक ही महाप्राण की सत्ता स्वीकृत है। द्रष्टव्य–मंगलदेवशास्त्रीरचित भाषाविज्ञान।

16. निरुक्त– 2/2

17. तत्सामान्या मनुष्यकक्षः। बाहुमूलसामान्यादश्वस्य। (निरुक्त 2/2)

18. पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः (निरुक्त 2/7)

19. निरुक्त 1/20

20. निरुक्त 2/1 (द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद)

21. ऋग्वेद (1/1/16)

22. द्रष्टव्य– Taraporewala, Elements of the science of language, page-77-78 एवं उनका लेख contaminations in language, published in Ashutosh Jubilee volume.

23. (1) द्रष्टव्य– निरुक्तम्: व्याख्याकार प्रो॰ उमाशंकर शर्मा ऋषि, भूमिकाः चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ–72 चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, षष्ठ संस्करण।

24. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/3

25. आग्रायण (1/9), औदुम्बरायण (1/1), औपमन्यव (1/1), और्णयाम (2/26), कौत्स (1/15), गार्ग्य (1/3), गालव (4/30), भारद्वाज (6/30), वार्ष्यायणि (1/2), शाकटायन (1/3, 12, 13), शाकपूणि (2/8 : 3/1), शाकल्य (6/28), स्थौलाष्टीवि (71/4 : 10/1), इत्यादि। 'निरुक्त' में 22 निरुक्तकारों का नामोल्लेख मिलता है जिनमें से 13 यास्क से पूर्ववर्ती हैं।

डॉ. मैत्रेयी कुमारी
असिस्टेंट प्रोफेसर (संस्कृत विभाग)
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्र : 9811562307
ई–मेलः mkkumari51@yahoo.com

टी.आर.पी. और मीडिया

आज टी.आर.पी. अर्थात Television Rating Point समस्त चैनलों के दिशा निध ार्रण का कार्य कर रहा है। टी.आर.पी. व्यवस्था के अंतर्गत एक बक्सा जिसे 'People's Meter' कहते हैं, टेलीविज़न के भीतर फिट कर दिया जाता है। इसमें ये दर्ज होता रहता है कि किस कार्यक्रम को कितनी देर और किस समय देखा गया। स्पष्ट है कि किसी कार्यक्रम और चैनल की लोकप्रियता का अंदाज़ लगाने के लिए ही इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है। भारत में INTAM (Indian Television Audience Measurement) नामक एजेंसी इन ऑकड़ों को जमा करके रेटिंग लिस्ट जारी करती है। इसके लिए वह दो पद्धतियों को अपनाती है – Frequency Monitoring , Picture Matching Technique. प्रायः सप्ताह के प्रत्येक शुक्रवार को ये रेटिंग लिस्ट जारी की जाती है। टी.आर. पी. इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि एक तो इससे दर्शकों की रूचि का पता चलता है और दूसरे उनकी रूचि के आधार पर कार्यक्रम तैयार किए जा सकते हैं। किंतु टी.आर.पी. व्यवस्था की सबसे बड़ी खामी इसका सैंपल का आकार है। जिन चुनिंदा घरों में ये बक्से लगाए जाते हैं वे महानगरों एवं बड़े शहरों के अंतर्गत आते हैं। गॉवों और छोटे कस्बों को इसमें शामिल ही नहीं किया गया है जबकि वास्तविकता यह है कि जैसे–जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में बिजलीकरण हुआ है वैसे–वैसे इन क्षेत्रों में भी टी.वी. देखने वालों की संख्या में अच्छा–खासा इजाफा हुआ है। अतः टी.आर.पी. तय करने की प्रकिया में इन लोगों की भागीदारी न होने से टी.आर.पी. की व्यवस्था को जायज़ नहीं ठहराया जा सकता। केवल कुछ चुनिंदा घरों, और वे भी केवल महानगरों एवं बड़े शहरों के ही घरों, के आधार पर किसी कार्यक्रम व चैनल की लोकप्रियता का निर्णय कर लेना सर्वथा अनुचित है। वैसे भी ग्रामीण क्षेत्रों और महानगरीय निवासियों की रूचियों में स्वभावतः भिन्नता होती है। अतः यह आवश्यक नहीं कि जो कार्यक्रम ग्रमीण निवासियों को पसंद हों, शहरी निवासियों को भी उसी अनुपात में पसंद आए या फिर शहरी लोगों की रूचि का कार्यक्रम ग्रमीण लोगों को भी उतना ही रूचिकर लगता हो। कहना मात्र इतना चाहती हूँ कि टी.आर.पी. व्यवस्था का सैंपल दुरुस्त किए जाने की आवश्यकता है।

टी.आर.पी. व्यवस्था का एक दुष्परिणाम टी.वी. चैनलों के बीच गलाकाट प्रतिस्पर्धा व्याप्त हो जाने के रूप में सामने आया है। चूँकि टी.आर.पी. के आध ार पर ही विभिन्न चैनलों और कार्यक्रमों में विज्ञापनों की संख्या निर्भर करती

है अतः अधिकाधिक टी.आर.पी. अंक हासिल कर रेटिंग लिस्ट में अव्वल स्थान प्राप्त करने की जबर्दस्त होड़ के चलते कार्यक्रमों की गुणवत्ता प्रभावित हुई है। इसी कारण स्वस्थ मनोरंजन व ज्ञानवर्द्धन के कार्यक्रमों के स्थान पर बेसिर–पैर के कार्यक्रम दर्शकों को परोसे जा रहे हैं। कॉमेडी का स्थान फूहड़ हास्य और अश्लील हरकतों ने ले लिया है। रिएलिटी शोज़ के नाम पर भावनाओं के साथ खिलवाड़ कर वाहवाही लूटी जाती है। आपराधिक धटनाएं और खतरनाक स्टंट देखकर बच्चों की मानसिकता विकृत हो रही है किंतु टी.आर.पी की होड़ के चलते इसकी परवाह किसे है? परिणामस्वरूप लगभग प्रत्येक चैनल पर ऐसे कार्यक्रमों की भरमार है। खबरों से सरोकार नदारद होते जा रहे हैं और उनका स्थान सनसनीखेज किस्से–कहानियों ने ले लिया है। किसानों–मजदूरों की दुर्दशा ब्रेकिंग न्यूज़ नहीं बनती किंतु 'विराट कोहली की गर्लफ्रेंड' राष्ट्रीय खबर बन जाती है। कहना न होगा कि आज मीडिया सामाजिक सरोकारों से उतना न जुड़कर अपनी टी.आर.पी. की चिंता से अधिक जुड़ा दिखाई पड़ रहा है। जिस चैनल और कार्यक्रम की टी.आर.पी. जितनी अधिक होगी, उसे विज्ञापन भी उतने ही अधिक मिलेंगे। अतः टी.आर. पी. बढ़ाने के लिए खबरों के स्वरूप की चिंता नहीं की जा रही है। वास्तु, फेंगशुई, भूत–प्रेत, फैशन, सेक्स, चमत्कार, अपराध के किस्से कहते एंकर किसी भी दृष्टिकोण से प्रगतिशील और विकासवादी दिखाई नहीं देते। होना तो यह चाहिए कि ऐसी दकियानूसी, चमत्कारी और फिजूल की बातों का मीडिया द्वारा तर्कपूर्ण ढंग से खंडन किया जाए किंतु हैरत होती है यह देखकर कि ऐसी खबरों को बढ़ा–चढ़ाकर व महिमामंडित कर प्रस्तुत किया जाता है। समाचार चैनलों के प्रति लोगों की विश्वसनीयता के चलते ऐसे कार्यक्रम अधिक हानिकारक हैं। कहना मात्र यह चाहती हूँ कि अंध–भक्त जनता को ऐसे कार्यक्रम़ दिखाकर मीडिया दिशाहीन ही बनाता है। मीडिया का तो दायित्व बनता है कि वे ऐसे अंधविश्वासों से जनता को उबारने का कार्य करें परंतु टी.आर.पी. की होड़ ने मीडिया को ऐसे स्तर पर ला खड़ा किया है जहॉ वे अपनी मुनाफा नीति को ही सर्वोपरि रखते हैं। यद्यपि यह भी सच है कि मीडिया ने कई मोर्चों पर बखूबी अपना फर्ज निभाया है तथा जान जोखिम में डालकर भी कई पत्रकारों ने कवरेज कर जनता की ऑख पर बंधी अज्ञान की पट्टी हटायी है किंतु आज 'टी.आर.पी. की होड़' भी मीडिया की वह सच्चाई है जिससे मीडिया की साख को क्षति पहुँची है। यहॉ प्रश्न यह उठता है कि यदि ये कार्यक्रम इतने ही बकवास हैं तो फिर इनकी टी.आर.पी. अधिक क्यों होती है? इनका दर्शक वर्ग कौन सा है?

इस संदर्भ में 'हंस' पत्रिका के जनवरी, 2007 के खबरिया चैनलों पर प्रकाशित विशेषांक का उदाहरण देना चाहूँगी जिसमें 'आज तक' चैनल के समाचार निदेशक क़मर वहीद नक़वी ने लिखा था कि '' लोग आलोचना बहुत करते हैं कि न्यूज़ चैनल दिन भर कचरा परोसते रहते हैं, लेकिन सच यह है कि लोग कचरा ही देखना चाहते हैं। कुछ तमाशा हो, कुछ ड्रामा हो, वह जितनी बार दिखाया जाए, उतनी बार दर्शकों की भारी तादाद उसे देखने खिंची चली आएगी। जिसे देखो वही कहता फिरता है कि आप लोग क्या–क्या बकवास दिखाते रहते हो? समझ में नहीं आता कि जब कोई यह बकवास देखना ही नहीं चाहता तो फिर इस बकवास के दर्शक कहॉ से आते हैं?''

असल में, सन् 2000 के पश्चात हमारे देश में न्यूज़ चैनलों की तादाद काफी बढ़ी। ऐसे में इंडिया टी.वी. ने जहॉ भूत–प्रेत और सनसनीखेज कार्यकक्रम दिखाकर अधिक टी.आर.पी. बटोरने की कोशिश की, वहीं स्टार न्यूज़ ने 'सनसनी' जैसा कार्यक्रम शुरू कर न्यूज़ बुलेटिन का रंग–ढंग ही बदल डाला। परिणाम यह हुआ कि 'आज तक' जैसे खबरिया चैनल को जो कि हमेशा टॉप पर रहता था, इंडिया टी.वी. और स्टार न्यूज़ ने पछाड़ कर पीछे ढकेल दिया। ऐसे में अन्य चैनलों में भी टी.आर.पी. बटोरने की प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई क्योंकि जितनी अधिक टी.आर.पी. उतने अधिक विज्ञापन तथा जितने अधिक विज्ञापन उतनी अधिक कमाई। ऐसी स्थिति में जो चैनल टी.आर.पी. के फेर में न पड़कर 'हार्ड न्यूज़' को ही प्राथमिकता दे रहे थे, उनके लिए चैनल चलाने का खर्चा निकालना भी मुश्किल हो गया। अतः उन्हें भी टी.आर.पी. की दौड़ में शामिल होना पड़ा। आईबीएन7 के संपादक रहे आशुतोष ने अपने लेख में लिखा है कि ''खबरों और खास तौर पर हिंदी समाचार चैनलों में खबरों के भटकाव के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार टी.आर.पी. है। अच्छी खबरों की टी.आर.पी. नहीं है। कोई चैनल किसी बड़ी अंतर्राष्ट्रीय खबर को दिखा रहा हो या फिर राष्ट्रीय महत्व की किसी खबर को उठा रहा हो, उसकी टी.आर.पी. नही आती लेकिन भूत–प्रेत दिखाने वाले चैनल की अच्छी टी.आर.पी. आ जाती है।.....एक अदना–सा लड़का भी जानता है कि टी.वी. में तीन सी, यानी क्रिकेट, क्राइम और सिनेमा बिकता है और प्रस्तुतीकरण जितना सनसनीखेज होगा उतनी ही टीआरपी टूटेगी। और टीआरपी माने विज्ञापन, विज्ञापन माने पैसा, पैसा माने प्रोफिट, प्रोफिट माने बाजार में जलवा। जिस हफ्ते टीआरपी गिर जाती है उस हफ्ते एडिटर्स को नींद नहीं आती, उसको अपनी नौकरी जाती हुई नज़र आती है, ब्लड प्रेशर बढ़ जाता है, वो न्यूज़ रूम में ज्यादा चिल्लाने लगता है,और फिर

टीआरपी बढ़ाने के नए–नए तरीके इजाद करता है।'' मैं निस्संकोच कहना चाहूँगी कि टी.आर.पी. की इस होड़ ने मीडिया को संवेदनहीनता के कगार तक ला खड़ा किया है। रामनारायण नामक व्यक्ति के आत्मदाह की फुटेज का प्रसारण रोंगटे खड़े कर देने वाला था। मानवता और इंसानियत को कहीं पीछे छोड़ मीडियाकर्मी उस जलते हुए व्यक्ति की रिकार्डिंग करने में लगे रहे। मीडिया के लिए इससे अधिक धिक्कार की और क्या बात हो सकती है कि एक जलते हुए व्यक्ति का जीवन बचाने का प्रयास करने की अपेक्षा वे अपने चैनल की टी.आर.पी. बढ़ाने के लिए उस क्षण को रिकॉर्ड करते रहे। इसी तरह, किसी शोक–संतप्त परिवार से मीडियाकर्मियों द्वारा अजीबोगरीब प्रश्न पूछना हैरत में डालता है। सर्वाधिक टी.आर.पी. हासिल करने की यह प्रतिस्पर्धा मनुष्यता पर सवालिया निशान लगाने का ही कार्य कर रही है। अतः या तो टी.आर.पी. व्यवस्था को पूर्णतः समाप्त कर दिया जाना चाहिए ,या फिर इसमें सुधार कर लागू किया जाए। मसलन, तकनीकी खामियों को तो दुरुस्त किया ही जाए जिससे दर्ज ऑकड़ों में छेड़छाड़ की संभावना न रहे, साथ ही गॉवों की प्रतिभागिता भी सुनिश्चित की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त मीटरों की संख्या बढ़ाना, रेटिंग को प्रति सप्ताह जारी करने के स्थान पर महीने–दो महीने के अंतराल पर जारी करना, चुने जाने वाले घरों के विषय में पारदर्शिता अपनाना भी कारगर उपाय हो सकते हैं। वस्तुतः यह जानते हुए भी कि अपने देश में टी. आर.पी. व्यवस्था अनेक खामियों से भरी है, फिर भी अधिकाधिक टी.आर.पी. हासिल करने की दौड़ लगाना और कार्यक्रमों की गुणवत्ता से समझौता करना समझदारी नहीं है। ऐसा करके मीडिया सामाजिक सरोकारों से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन करने वाले कार्यक्रम तथा सही खबरें अपने दर्शकों को दिखाना ही मीडिया का लक्ष्य है। अतः टी.आर.पी. बटोरने की अंधी दौड़ में शामिल न होकर मीडिया को अपने लक्ष्य से भटकना नहीं चाहिए।

डॉ. सुषमा सहरावत
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
सम्पर्क सूत्रः 9891483516
ई–मेलः sushma241@gmail.com

प्राचीन भारत में विधवा जीवन : एक अभिशाप

नारी, ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से एक है। नारी के बिना पुरुष को पूर्ण नहीं माना जा सकता, परन्तु यह भी सच है कि पुरुष के बिना स्त्री का जीवन भी अपूर्ण ही है। स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर ही ईश्वर की सृष्टि की सरंचना का संवर्द्धन करते हैं। स्त्री और पुरुष ही जीवन रूपी गाड़ी के दो चक्र हैं और दोनों चक्रों के समान रूप से चलने पर ही जीवन रूपी गाड़ी आनन्द और उत्साह के साथ आगे बढ़ती है। इस जीवन में एक स्त्री विविध रूपों को धारण करती है। यथा– पुत्री, बहन, पत्नी, माता आदि। इन सभी रूपों में नारी का पत्नी रूप ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उसके उपरान्त ही वह मां, दादी, नानी आदि विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों के पदों को प्राप्त करती है। यह सभी पद स्त्री को पुरुष के सहयोग से ही प्राप्त होते हैं। इसी कारण स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी कहा गया है। सत्य ही है कि स्त्री के बिना पुरुष अपूर्ण रहता है, परन्तु यह भी सच है कि बिना पुरुष के या पति की मृत्यु के पश्चात् उसका जीवन–जीवन न होकर एक अभिशाप बन जाता है। प्राचीनकाल में स्त्री को जितना अपमान, अनादर, ग्लानि, दुःख, कष्ट आदि अपने पति की मृत्यु के पश्चात् सहन करना पड़ता था उतना शायद ही कभी उसने अपने जीवन में सहन किया होगा।

प्राचीनकाल में पति की मृत्यु होने पर स्त्री के लिए तीन प्रकार से जीवनयापन करने की प्रथा का प्रचलन था।

(1) सती प्रथा : पति की मृत्यु के पश्चात् उसके शव के साथ सती होना।

(2) विधवा धर्म अपनाना : सती न होकर, विधवा धर्म का जीवन पर्यन्त पालन करना।

(3) पुनर्विवाह : पति की मृत्यु होने पर पुनः विवाह करना।

(1) सती प्रथा –

सती का शब्दिक अर्थ 'अमर' अथवा सत्य पर स्थिर रहने वाली के अर्थ में किया गया है। सती शब्द अर्थात् मृत पति के शव के साथ ही चिता पर बैठकर सती होना, पति–पत्नी के अटूट और अविच्छेद्य संबंध को भी व्यक्त करता

है। स्त्रियों का सती होना न केवल भारत में अपितु प्राचीन यूनानियों, स्लावों आदि जातियों में भी प्रचलित था।

वैदिक साहित्य के सर्वप्रथम वेद ऋग्वेद में विधवा शब्द कई बार आया है।[1] किन्तु 10वें मण्डल के 40वें सूक्त के दूसरे मंत्र को छोड़कर अन्य अंश विधवा की दशा पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डालते। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के एक सूक्त में कहा गया है कि मरूतों की अति शीघ्रगतियों से पृथ्वी पतिहीन स्त्री की भांति कांपती है।[2] इससे यही स्पष्ट होता है कि पतिहीन स्त्रियाँ उसी प्रकार डरती और दुखी होती थीं जिस प्रकार पृथ्वी। शत्पथ ब्राह्मण के अनुसार पत्नियाँ धृत या वज्र से हत होने पर तथा बिना पुरुष के होने पर न तो अपने पर राज्य कर सकती हैं और न दाय (सम्पत्ति भाग) पर।[3] इस प्रकार का विवेचन धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है। परन्तु वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप से विधवा स्त्री के सती होने का कोई मंत्र प्राप्त नहीं होता है।

गृह्यसूत्रों में भी इस विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। सती प्रथा सम्बन्धि वर्णन विष्णुधर्मसूत्र तथा महाभारत में प्राप्त होते हैं। विष्णुधर्मसूत्र में लिखा है कि– अपने पति की मृत्यु पर विधवा ब्रह्मचर्य रखती थी या उसकी चिता पर बैठ जाती थी अर्थात् सती हो जाती थी।[4] विष्णुधर्मसूत्र में प्राप्त होता है कि कृष्ण की मृत्यु पर उनकी आठ रानियों ने अग्नि में प्रवेश कर लिया।[5] बृहत्संहिता में कहा गया है कि स्त्रियाँ कृतज्ञता के वश में आकर अपने पति का आलिंगन करके अग्नि में प्रवेश कर जाती हैं।[6]

इसी प्रकार बहुत से अभिलेखों में सती होने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। इनमें सबसे प्राचीन गुप्त संवत् 191 (510 ई॰) का एरण–प्रस्तर–स्तम्भ–अभिलेख है, जिसमें गोपराज की पत्नी का पति के साथ सती होने का वर्णन है। बेलतुरु अभिलेख (979 शक संवत्) में देकबे नामक शुद्र स्त्री अपने पति की मृत्यु के पश्चात् माता–पिता के मना करने पर भी भस्म हो जाती है और उसके माता–पिता द्वारा उसकी स्मृति में स्तम्भ स्थापित करवाया गया है। डॉ0 एन. एन. घोष के अनुसार मौर्यकाल में सती प्रथा का प्रचलन नहीं तथापि कहीं–कहीं स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक पति की चिता में प्रविष्ट होकर आत्मदाह कर लेती थी।

महाभारत के आदि पर्व में आया है कि जिस प्रकार पृथ्वी पर पड़े हुए मांस के टुकड़े पर पक्षी मंडराते हैं उसी प्रकार पतिहीन स्त्री पर पुरुष टूट पड़ते हैं।

उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः। प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम्।[7] इसी प्रकार शान्ति पर्व में आया है कि बहुत से पुत्रों के होने पर सभी विधवायें दुःखी हैं।[8]

स्मृतादि में सती होने की प्रक्रिया के विषय में कहा है कि विधवा स्नान करके दो श्वेत वस्त्र पहनती है और अपने हाथों में कुश पकड़ती है, पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ी होती है तथा आचमन करती है। जब ब्राह्मण **'ओम तत्सत्'** उच्चारण करता है, तब वह भगवान् नारायण का स्मरण करती है। वह मास, तिथि और पक्ष का निर्देश करती हुई संकल्प करती है। अपने सहमरण अथवा अनुमरण के साक्षी होने के लिये दिक्पालों का आवाहन करती है। तीन बार चिता की प्रदक्षिणा करती है। उस समय ब्राह्मण 'इमा नारी' आदि मंत्रों का उच्चारण करता है और फिर पौराणिक वचन के अनुसार पति में अनुरक्त ये भद्र और पवित्र स्त्रियाँ मृत पति के शरीर के साथ अग्नि में प्रवेश करें।[9] इसी के साथ चिता में प्रवेश होता था।

सती होने पर प्राप्त पुण्यों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो स्त्री–पति की मृत्यु का आचरण करती है, वह मनुष्य के शरीर पर पाये जाने वाले रोमों की संख्या के तुल्य वर्षों तक स्वर्ग में विराजती है। जिस प्रकार साँप पकड़ने वाला साँप को बिल में से निकाल लेता है वैसे ही अधोगति से अपने पति को बचाकर उसके साथ स्त्री स्वर्ग को जाती है। पति का अनुगमन करने वाली स्त्री माता, पिता तथा भर्ता तीनों के कुलों को पवित्र करती है। वह पति में अनुरक्ति रखने वाली उत्तम, परम आकांक्षा वाली स्त्री पति के साथ स्वर्ग में चतुर्दश इन्द्रों के समय तक विहार करती है। पति कृतघ्न तथा मित्रघ्न ही क्यों न हों, उसका अनुगमन रखने वाल स्त्री उसे पवित्र करती है। पति के मरने पर जब तक पवित्रता अपने शरीर का दाह नहीं करती तब तक वह शरीर से किसी प्रकार भी मुक्त नहीं होती। मरकर पति के स्वर्ग जाने पर वियोग के क्षत (घाव) से कातर स्त्रियों का अग्नि–प्रवेश के अतिरिक्त दूसरा मार्ग (धर्म) नहीं है।[10] इस प्रकार सतीप्रथा के वर्णन कतिपय ग्रंथों तथा अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। परन्तु इस अभिशप्त क्रियाविधि का पुरज़ोर विरोध ग्रन्थकारों, साहित्यकारों तथा महापुरुषों द्वारा समय–समय पर किया गया है। मेघातिथि का कहना है कि यह आत्महत्या है और स्त्रियों के लिये वर्जित है। देवण्ण भट्ट ने भी इस प्रथा की कटु आलोचना की है, उनके अनुसार सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी रहने की अपेक्षा बड़ा जघन्य है।[11]

इसी प्रकार महाकवि बाण भट्ट ने सती–प्रथा का बड़ा विरोध किया है। उनका मत है कि स्त्री सती होकर आत्महत्या करती है। इस पाप के कारण वह नरक में गमन करती है।[12] इसी प्रकार दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजराम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन आदि महापुरुषों ने भी सती–प्रथा का पुरज़ोर विरोध किया है।

(2) सती न होकर, विधवा धर्म का जीवन पर्यन्त पालन करना –

अनेक धर्मसूत्रों, ग्रन्थों तथा स्मृतियों में विधवा स्त्री के जीवनयापन हेतु अनेक नियम–उपनियमों को बनाया गया है, जिससे उसका जीवन, जीवन न रहकर एक अभिशाप से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है कि विधवा को सालभर तक मधु, मांस, मदिरा एवं नमक छोड़ देने चाहिये तथा भूमि पर शयन करना चाहिये।[13] रामायण में विधवाओं द्वारा पूजा–पाठ में समय व्यतीत करने की अनुशंसा प्राप्त होती है।[14] मनुस्मृति के अनुसार पति के मर जाने पर स्त्री यदि वह चाहे तो केवल पुष्पों, फलों एवं मूलों को ही खाकर अपने शरीर को गला दे अर्थात् दुर्बल बना दे। किन्तु उसे अन्य व्यक्ति का नाम भी नहीं लेना चाहिये। मृत्यु पर्यन्त उसे संयम रखना चाहिये, व्रत रखने चाहिये, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिये और पतिव्रता के सदाचरण तथा गुणों की प्राप्ति की आकांक्षा करनी चाहिये। पति की मृत्यु के उपरान्त यदि साध्वी नारी अविवाह के नियम के अनुसार चले अर्थात् अपने सतीत्व की रक्षा में लगी रहे, तो वह पुत्रहीन रहने पर भी स्वर्गारोहण करती है, जैसा प्राचीन नैष्ठिक ब्रह्मचारियों ने किया था।[15] बौधायन धर्मसूत्र ने भी सम्पूर्ण श्रृंगार त्याग कर विधवा को पुजारिन हो जाने की सलाह दी है।[16] स्कन्दपुराण में विधवा धर्म के विषय में कहा गया है कि अमंगलों में विधवा सबसे अमंगल है, विधवा–दर्शन से सिद्धि प्राप्त नहीं होती, विधवा माता को छोड़ सभी विधवाएं अमंगल सूचक हैं, विधवा की आशीर्वादोक्ति को विज्ञजन ग्रहण नहीं करते, मानो वह सर्पविष हो। स्कन्दपुरण के काशीखण्ड में कहा गया है– विधवा के कबरीबन्ध अर्थात् सिर के केशों को सँवार कर बाँधने से पति बन्धन में पड़ता है, अतः विधवा को अपना सिर मुण्डित रखना चाहिये। उसे दिन में केवल एक बार खाना चाहिये, या उसे मास भर उपवास करना चाहिये या चन्द्रायण व्रत करना चाहिये। जो स्त्री पर्यकं पर शयन करती है वह अपने पति को नरक में डालती है। विधवा को अपना शरीर सुगन्धित लेप से

स्वच्छ नहीं करना चाहिये, और न उसे सुगन्धित पदार्थों का सेवन करना चाहिये। उसे प्रतिदिन तिल, जल एवं कुश से अपने पति, पति के पिता एवं पति के पितामह के नाम एवं गोत्र से तर्पण करना चाहिये। उसे कंचुकी नहीं पहननी चाहिये, उसे रंगीन परिधान नहीं धारण करने चाहिये तथा वैशाख, कार्त्तिक एवं माघ मास में विशेष व्रत करने चाहिये।[17]

बाण ने हर्षचरित में लिखा है कि विधवाएँ अपनी आंखों में अंजन नहीं लगाती थीं और न मुख पर पीला लेप ही करती थीं, वे अपने बालों को यों ही बांध लेती थीं।[18] काणे के अनुसार वह अमंगल की सूचक थीं और किसी भी उत्सव में यथा विवाह में, किसी प्रकार का भाग नहीं ले सकती थीं। उसे केवल सन्यासी की भांति रहना पड़ता था, प्रत्युत पूर्णरूप से साध्वी रहना पड़ता था, कम भोजन और वस्त्र धारण करना पड़ता था।[19] इसी प्रकार ऐसी स्त्रियों के विषय में वृद्धहारीत ने भी करने और न करने योग्य कार्यों का विस्तार से विवेचन किया है। उसे बाल सँवारना, पान खाना, गन्ध, पुष्प, आभूषण एवं रंगीन परिधान का प्रयोग छोड़ देना चाहिये; पीतल–कांसे के बर्तन में भोजन भी नहीं करना चाहिये। उसे दो बार भोजन करना, अंजन लगाना आदि त्याग देना चाहिये, उसे श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिये, उसे इन्द्रियों एवं क्रोध को दबाना चाहिये, पवित्र एवं सदाचरण वाली होना चाहिये, सदा हरि की पूजा करनी चाहिये, रात्रि में पृथ्वी पर कुश की चटाई पर शयन करना चाहिये, मन, योग एवं सत्संगति में लगा रहना चाहिये।

इस प्रकार विधवा स्त्रियों की स्थिति समाज कें अत्यन्त शोचनीय थी। समाज में उनको अमंगल सूचक माना जाता था। वह किसी भी मांगलिक कार्य में भाग नहीं ले सकती थीं। उसको देखना भी लोग अमंगल मानते थे। उसे अपना पूरा जीवन साध्वी के नियमों से भी कठोर नियमों के साथ बिताना पड़ता था। इस प्रकार विधवा स्त्री का जीवन अत्यन्त दुःखों से परिपूर्ण एवं अभिशप्त था।

(3) विधवा–विवाह अथवा पुनर्विवाह –

वेदों में विधवा–विवाह का निषेध नहीं था। ऋग्वेद की एक ऋचा में, उस स्त्री से जो, अपने पति के शव के साथ लेटी हुई है, से कहा गया है– *स्त्री, उठो! तुम उसके पास लेटी हो जिसकी इह लीला समाप्त हो गयी है। अपने पति से दूर हटकर जीवितों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो, जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे विवाह करने को इच्छुक है।*[20]

अथर्ववेद में 'दिधुषू' शब्द के प्रयोग से पता चलता है कि विधवा अपने देवर से विवाह करती थी।[21] तैत्तिरीय संहिता से भी विदित होता है कि वैदक काल में भी विधवा–विवाह प्रचलित था।[22] अर्थशास्त्र में पुनर्विवाह के लिये कहा गया है– मृते भर्त्तरि धर्मकामा तदानीमेवास्थाप्यभरणं शुल्कशेषं च लभेत। लब्धा वा विन्दमाना सवृछिक्मुभयं राप्येत।।[23] अर्थात् पति के मर जाने पर स्त्री यदि अपने धर्म–कर्म पर रहना चाहती हो तो उसे अपने दोनों प्रकार के निजी और पति धन ले लेना चाहिये। उस धन को लेने के बाद यदि वह दूसरा पति कर ले तो ब्याज सहित सारे मूलधन को वापिस कर दे।

महाभारत में भी विधवा को पुत्र प्राप्ति के लिये देवर से विवाह करने की अनुमति दी है।[24] गौतम धर्मसूत्र ने तो पुत्र की इच्छा रखने वाली विधवा को, देवर के नहीं रहने पर सपिण्ड या सप्रवर आदि से भी विवाह की छूट प्रदान की है।[25] बौधायन धर्मसूत्र ने भी विधवा को सपिण्ड से विवाह करने की अनुमति दी है।[26] महाभारत से विदित होता है कि दुर्योधन ने युद्ध के अन्तिम दिनों में किसी विधवा से शादी सम्पन्न कर शेष जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत करने की इच्छा व्यक्त की थी, किन्तु युद्ध ने उसकी इच्छा बलवती नहीं होने दी।[27]

कहीं–कहीं विधवा–विवाह का विरोध भी प्राप्त होता है। जैसे आपस्तम्ब धर्मसूत्र में पुनर्विवाह की भर्त्सना करते हुए कहा गया है कि यदि कोई उस स्त्री से जिसका कोई पति रह चुका हो या जिसका विवाह संस्कार न हुआ हो या दूसरे वर्ण की हो, सम्भोग करता हो तो पाप का भागी होता है और उसका पुत्र भी पाप का भागी कहा जायेगा।[28] आश्वलायन गृह्यसूत्र[29] ने भी विधवा–विवाह का विरोध किया है।

इस प्रकार प्राचीन भारत में विधवाएँ पति की मृत्यु हो जाने पर अपना जीवन व्यतीत करती थीं, जो अत्यन्त ही कठिन कार्य था। इस प्रकार का उनका जीवन–जीवन न होकर एक अभिशाप से ज़्यादा कुछ नहीं था। जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छा से न तो जी सकता है और न ही मर सकता है। जिन–जिन प्राचीन ग्रन्थों में विधवा–विवाह का विवेचन किया गया है वह असमीचीन हैं। इस सन्दर्भ में हो सकता है उन समर्थन करने वालों का कोई निजी स्वार्थ रहा हो, जिसके कारण उन्होंने विधवा स्त्रियों के सती होने का समर्थन किया। परन्तु भारतीय धर्म परंपरा के स्रोत ग्रन्थ वेदों में इसका कोई उचित प्रमाण नहीं

मिलता। सती प्रथा एक अपराधिक प्रवृत्ति थी, जो अत्यन्त निन्दनीय थी। उसका समर्थन किसी भी बौद्धिक वर्ग की महनीयता नहीं होगी। अतः इस अभिशप्त क्रियाविधि का निषेध तर्कपूर्ण है तथा जीवन परम्परा का विरोधी है। अतः इसका सर्वथा निषेध करना चाहिये।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. ऋग्वेद– 4/18/12 ; 10/18/7 ; 10/40/2
2. प्रैषामज्मेषु विधुरेव रेजते भूमिर्यामेषु युद्ध युञ्जते शुभे। –ऋग्वेद, 1/87/3
3. गौतम– 18/1, वशिष्ठधर्मसूत्र– 5/1 एवं 3, मनुस्मृति– 5/146-148, 9/1-3, बौधायन धर्मसूत्र– 2/2/50-52
4. विष्णुधर्मसूत्र– 25/14
5. विष्णुधर्मसूत्र– 5/38/2
6. बृहत्संहिता– 5/38/2
7. महाभारत– आदिपर्व
8. महाभारत– शान्तिपर्व
9. याज्ञ– 1/87 पर अपरार्क का भाष्य
10. अंगिरा का उद्धरण, कृत्यकल्पतरू, व्यवहार कांड, पृष्ठ 623-624
11. स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार काण्ड, पृष्ठ 598
12. कादम्बरी, पूर्वार्ध– पृष्ठ 308
13. संवत्सरं प्रेतपत्नी मधुमांस मद्यलवर्णान वर्ज भेदधश्श्चीत।– बौधायान धर्म. 2/2/47
14. वाल्मिकि रामायण– 4/5/6/23
15. मनुस्मृति– 5/157-160
16. बोधायन धर्मसूत्र– 2/4/7/8

17. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड– 4/55/75

18. बध्नातु वैधव्यवेणीं वरमनुष्यता– हर्षचरित–5

19. पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–1, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1980। पृष्ठ 332

20. ऋग्वेद– 10/18/80

21. अथर्ववेद– 9/5/27-28

22. तैत्तिरीय सहिंता– 3/2/4/4

23. अर्थशास्त्र– 3/58/2

24. महाभारत– 13/12-19

25. गौतमधर्मसूत्र– 18/4/14

26. बौधायनधर्मसूत्र– 2/2/4-7

27. महाभारत– 9/31/45

28. आपस्तम्ब धर्म॰– 2/6/13/3-4

29. आश्वलयान गृह्यसूत्र– 1/7/13

डॉ0 कमलेश रानी
असिस्टेंट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्र : 9540140569
ई–मेलः kamalbattra@gmail.com

रीतिकाल : ब्रजभाषा की उपजाऊ भूमि

रीतिकाल अपनी विशिष्ट शालीनता, भव्यता और भौतिक लोक–लालसा के लिये सुविख्यात है। भाषा की दृष्टि से रीतिकाल न केवल समृद्ध रहा वरन् अभिव्यंजनात्मक दृष्टिकोण से कई नए आयाम भी स्थापित किए। ब्रजभाषा अपने पूर्ण अस्तित्व में इसी युग में आई। 'बोली' से 'भाषा' बनने का प्रयास ब्रज ने किया वह सराहनीय है, और 'ब्रज' क्षेत्र से बाहर निकलकर 'भाषा' बनना कोई आसान कार्य नहीं किन्तु व्यापक फलक पर छा जाने का जो कार्य ब्रजभाषा ने किया, वह आज के मीडिया–युग में अकल्पनीय ही है। कारण जो भी हो किन्तु जनमानस से लेकर राजा–मंत्री सभी की पसंदीदा भाषाओं में 'ब्रज' ने जो लोकप्रियता हासिल की वह अकल्पनीय है। यह तथ्य भी विचारणीय है है कि ब्रजभाषा की सीमा और विस्तार न केवल ब्रज क्षेत्र तक फैला था अपितु ब्रजेतर प्रदशों में भी छाया हुआ था। सूर, तुलसी, मीरा जैसी आत्मा की पुकार और सामाजिक चेतना का भारी–भरकम उत्तरदायित्व भले ही ब्रजभाषा रीतिकाल में न संभाल पाई हो किन्तु कला–प्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार द्वारा रीतिकवियों ने हिंदी काव्य की समृद्धि में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

रीति–कवियों ने काव्य रचना से पूर्व ब्रजभाषा के एक–एक शब्द को मानो तुला पर तौलते हुए खूब जांच–परख कर प्रयोग किया है। पंत ने इनकी इसी विशेषता को हृदयंगम करके यह लिखने का प्रयास किया कि "जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथकर हल्का तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचे में ढालने से पूर्व भाषा को भी हृदय ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है।[1]" रीतिकवियों ने टकसाली ब्रजभाषा को अपनाते हुए काव्य–रचना की जिसमें जनभाषा का माधुर्य और नवीनता है। लक्षणा और व्यंजना से चमत्कृत आलंकरिक उद्भावनाएं इनकी निजि सम्पत्ति है और वक्रता का ऐसा विशाल वैभव अन्यत्र दुर्लभ ही है। कारण साफ है, मुक्तक परंपरा का निर्वाह करते हुए आश्रयदाताओं की गोद में पल रहे कविगणों को चमत्कारपूर्ण भाषा का प्रयोग करना ही उचित जान पड़ा।

फारसी रीतिकाल में राजकीय भाषा थी। फारसी भाषा के अलंकार प्रधान होने के कारण इसका प्रभाव प्रत्येक भाषा पर पड़ना अवश्यम्भावी था। ब्रज भी इसके प्रभाव से न बच पाई। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि ब्रज फारसी से तो प्रभावित हुई ही, साथ में संस्कृत रसधारा से भी अपना रस–सिंचन करती रही। संभवतः यह सब इसलिये मुमकिन हुआ क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र में बताए गए सौंदर्य के उपकरण इस काल के कवियों द्वारा अपनाई जा रही भाव और कला–पद्धति के अधिक अनुकूल जान पड़ते थे। आश्रयदाताओं को प्रसन्न रखने की इच्छा रखने वाले कवियों के लिये यह मार्ग आसान भी था। इसके विपरीत कुछ कवि ऐसे भी थे जो स्वतंत्र रूप से अपनी काव्य–रचनाएं लिख रहे थे। इसलिये उनकी रचनाएं काव्यशास्त्रीय उपकरणों से दूर रहीं।

यों तो ब्रज साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से भक्ति साहित्य में पनपने लगे थी किन्तु उसको खाद, हवा, पानी की सर्वोत्तम खुराक रीतियुग में ही मिली अर्थात् साहित्यिक प्रौढ़ता इसी काल में ब्रजभाषा ने प्राप्त की। शब्द भंडार की दृष्टि से रीति साहित्य पर्याप्त समृद्ध एवम् सम्पन्न है। ब्रजभाषा को मज़बूती प्रदान करने में अरबी–फारसी, प्रादेशिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के शब्दों का अत्यधिक योगदान रहा है। रीतिकाव्य में प्रयुक्त शब्दावली इसका प्रमाण है। भूषण, पद्माकर, देव, बिहारी, घनानंद ने अपनी विदग्धता व पूर्ण रीति से ब्रजभाषा की समृद्धि एवम् संवर्धन करते हुए सहज और मार्दवपूर्ण कलेवर को बनाने का साहसिक प्रयास किया।

रीतिमुक्त कवियों की भाषा में लाक्षणिक सौंदर्य देखते ही बनता है। लक्षणा और व्यंजना का सहारा लेते हुए घनानंद जैसे कवि ने काव्यगाथा की शक्ति का परिचय दिया है। आचार्य शुक्ल ने घनानंद की प्रशंसा करते हुए लिखा है– "घनानंद जी उन बिरले कवियों में हैं, जो भाषा की व्यंजकता को बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं को अनूठे रूप–रंग की व्यंजना के लिये भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिंदी के पुराने कवियों में दूसरा न हुआ। भाषा की लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहां तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।[2]" घनानंद सरस ब्रजभाषा का प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। औटपाय (उपद्रव), सल (पता), पैंछर (पैर की आवाज़), बधूरा (बवंडर), तेह (क्रोध) आदि शब्द ब्रजभाषा की समृद्धि ही करते हैं। घनानंद ब्रजभाषा के मर्मज्ञ हैं। ब्रजभाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। उनकी भाषा–निरुपण की अद्भुत क्षमता थी।

रीतिकाल में बोलचाल की ब्रज और साहित्यिक ब्रज में पर्याप्त अन्तर रहा है। बोलचाल की ब्रजभाषा, ब्रज के अतिरिक्त अन्य किसी क्षेत्र में उपयोग में नहीं लाई जाती। 13वीं शताब्दी से लेकर 20वीं शताब्दी तक भारत के साहित्यिक भाषा रहने के कारण ब्रज की इस जनपदीय बोली ने अपने विकास के साथ भाषा नाम प्राप्त किया। साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग ब्रज क्षेत्र से बाहर के कवियों ने भी किया है। यथासंभव रीतिकाल में ब्रजभाषा की लोकप्रियता में ही ऐसा दम था कि अन्य क्षेत्रों के कवि भी ब्रज में काव्य–रचना कर रहे थे। इसलिए कतिपय उन क्षेत्रों की बोलियों के रंग भी ब्रज के साथ जुड़े। साहित्यिक ब्रजभाषा में क्षेत्रीय रंगतों को अपनाने और उन्हें अपने रंग में रंग डालने की क्षमता है। बुंदेलखंड के कवियों में पद्माकर, ठाकुर, बोधा तथा ग्वाल कवि... गुरु गोविन्द सिंह जैसे कवियों में पंजाबी क्षेत्र का प्रभाव... दादू, सुन्दरदास, रज्जब जैसे संत कवियों में राजस्थानी पुट और रंगपाल, छुटकन जैसे कवियों के द्वारा रचे गए फागों को भोजपुरी छटा से सराबोर ब्रज में देखा जा सकता है।

रीतिकाल की भाषा समृद्धि को व्यक्तिगत तौर पर नहीं देखा जाना चाहिये। ब्रजभाषा रीतिकाल की सामूहिक प्रतिक्रिया का परिणाम है। भक्तिकाल के सूर, तुलसी, कबीर की तरह ही रहीम, रसखान, पद्माकर, ठाकुर, देव, बिहारीलाल आदि की लोकप्रियता का कारण उनकी भाषा की सहृदयता और लोकप्रियता ही थी। इन कवियों से ब्रजभाषा समृद्ध हुई है। इस युग के कवियों ने भले ही आश्रयदाताओं की प्रशंसा में क़सीदे गढ़े या बधाई कवित्त लिखे किन्तु वे प्रकृति को स्वच्छंद लक्ष्य से चाहले वाले कवि भी थे। सेनापति जैसे कवि के काव्य में प्रकृति, ब्रज की छटा में घुलीमिली दिखाई पड़ती हैः–

दूरि जदुराई, सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पाउस, न पाउ प्रेम पतियां।

रीतिकाल में ब्रजभाषा अतिशयता प्रवृत्ति से प्रभावित है। व्यक्तित्व की प्रधानता, भाषा में आकर चमत्कृत रूप धारण करती है। सतसईकारों के रूप में भी इस युग में एक नई परंपरा का जन्म हुआ। ब्रज सतसई परंपरा की वाह बनी। रीतिकालीन श्रृंगारिक सतसइयां ब्रजभाषा की अनुपम कृतियां हैं। सतसईकारों ने अपने मुक्तकों के लिए जिस लघु कलेवर छन्द को अपनाया, उसमें भाषा की मज़बूती सबसे अधिक अपेक्षित है। इन्हीं गुणों के कारण बिहारी मुक्तक रचना

में बेजोड़ समझे जाते हैं। सतसइयों को देखने से यह ज्ञात होता है कि ये सतसईकार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के भी अच्छे जानकार थे। राम सतसई, मतिराम सतसई, विक्रम सतसई, बिहारी सतसई रसनिधि सत्सई आदि ने ब्रजभाषा को फलने–फूलने का खूब अवसर दिया। सतसई भाषा–सौंदर्य में अपूर्व सुन्दरता मानो ब्रजभाषा से आ पाई है, यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी। कम शब्दों में अधिक भाव व्यक्त करने के लिये भाषा की समास शक्ति का प्रयोग बिहारी ने किया है। बड़े–बड़े प्रसंगों के भी दोहे की दो पंक्तियों में समेट देने में उन्हें सफलता मिली है। निम्नांकित दोहे में कनक शब्द का दो बार प्रयोग अलग–अलग अर्थों में करते हुए यमक का विधान किया गया हैः–

कनक–कनक तै सौगुनी मादकता अधिकाए।
उहिं खाएं बौराए, इहिं पाएं ही बौराए।।

सूरदास ब्रजभाषा के पहले कवि हैं जिन्होंने इसकी सर्जनात्मक संभावनाओं की सबसे पहले सार्थक खोज की और इसकी यांत्रिकता को तोड़ने का प्रयास किया था। रीतिकाल में ब्रजभाषा के परिष्कार या काटने, छांटने, निखारने का जो प्रयास हुआ, वह तो प्रशंसनीय है ही किन्तु सूर की ब्रजभाषा में जो प्राणवत्ता, प्रेम का वत्सल रूप मिलता है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। सूर के लिये भाषा साधन थी, साध्य नहीं और इसी कारण ब्रज भी इतनी रसग्राह्य बन गई कि गेय रूप आने के साथ–साथ महान चरित्र भी कल्पना लोक से उतरकर मानो यथार्थ के धरातल पर आ गए।

अपभ्रंश से जन्मी इस भाषा, अन्तर्वेदी, ग्वालेरी तथा पिंगल नाम से भी जाना जाता रहा था। रीतिकालीन काव्य में आम जनजीवन के शाश्वत और चिरंतन मूल्यों की अभिव्यक्ति क्षणिक तौर पर ही देखी जाती है किन्तु भौतिक जीवन की हृदयग्राहिणी अनुभूतियों का जैसा चरम रूप इसमें देखा जाता है, वह निश्चित ही मौलिक देन है। भाषा के क्षेत्र में रीतिपूर्ण भक्ति वाङ्मय में ब्रजभाषा के विकास और संवर्धन का प्रयास अवश्य लक्षित होता है, पर साहित्यिक गरिमा और प्रौढ़ता रीतिकाल में ही देखी जाती है। ब्रज के माध्यम से एक समान भावभूमि वाली जनभाषा हिंदी साहित्य को मिली, जिसमें सभी को एकता के सूत्र में बांधने की क्षमता थी। ब्रज की काव्ययात्रा रीतियुग में नए उत्कर्ष को छू रही थी और भाषा में निरंतर परिष्कार भी हो रहा था। सूरदास ने ब्रजभाषा को नवीन साहित्यिक देने जो साहस किया वह तो दुर्लभ है ही

किन्तु भाषा के ओजमयी, शृंगारिक और अन्य रसों से सरोबर भाषा का ऐसा रूप अन्यत्र नहीं मिलता।

हरि अपने आंगन कछु गावत,
तनक तनक चरननि सौं नाचत, मनहिं मनहिं रिझावत,
बाँह उठाई काजरी धौरी गैयनि टेरि बुलावत,
कबहुंक बाबा नन्द पुकारत, कबहुंक घर में आवत,
माखन तनक आपनैं कर ले, तनक बदन में नावत।

श्रीकृष्ण की बाल–लीला को सूर ने अपने काव्य में पिरोकर नवीन आयाम दिये। इसी प्रकार विष्णुदास की महाभारत कथा में रुक्मिणी मंगल, स्वर्गारोहण, मानिक की बैताल पच्चीसी में, छिताई वार्ता में, मेघनाथ की गीता भाषा में ब्रज का आदिकालीन रूप मिलता है।

निस्संदेह रीतिकाल ब्रजभाषा की उपजाऊ भूमि ही है। ब्रज में भाषा बनने के सारे गुण मौजूद थे। ब्रज क्षेत्र के अतिरिक्त ब्रजेतर क्षेत्र के कवियों ने सर्वाधिाक योगदान दिया है। जानकी रसिक शरण अयोध्या के वासी थे फिर भी राम के जीवन से संबद्ध 'अवध सागर' नामक ग्रंथ में ब्रजभाषा का सुन्दर और सहज रूप का वर्णन है। इसी प्रकार नृप शंभु की तीन कृतियां प्राप्त होती हैं– नायिका भेद, नखशिख और सात शतक। इनके छंदों को देखकर आश्चर्य होता है कि एक मराठी व्यक्ति किस प्रकार ऐसी सुन्दर ब्रजभाषा में रचना कर सका है। चिंतामणि पूर्वी क्षेत्र के रहने वाले थे किन्तु इन्होंने रसविलास, छंदविचार, कविकल्पतरू, कृष्णरचित, काव्य–विवेक और काव्य–प्रकाश आदि में ब्रजभाषा का परिस्कृत प्रयोग किया है। कुलपति मिश्र भी आगरा निवासी थे। ये आचार्य पहले हैं, कवि बाद में। इन्होंने लक्षणों और उदाहरणों को स्पष्ट करने के लिये ब्रजभाषा गद्य का भी सहारा लिया है। इन कवियों ने टकसाली ब्रजभाषा को अपनाते हुए काव्य–रचना की जिसमें जनभाषा का माधुर्य और नवीनता है। लक्षणा और व्यंजना से चमत्कृत आलंकरिक उद्भावनाएं इनकी निजी संपत्ति हैं और वक्रता का ऐसा विशाल वैभव दूसरी जगह मिलना असंभव है।

रीतिकालीन ब्रज में एक ओर सौंदर्य और माधुर्य की सुंदरता चार चाँद लगाती है वहीं दूसरी ओर आनुप्रसिकता और लाक्षणिकता होने से उसका सौंदर्य

दोगुना हो गया है। भूषण, मतिराम, बिहारी, देव, घनानंद, दास, पद्मकार, ग्वाल आदि की शब्द–साधना सराहनीय है। इनके शब्दों की आभा और चमत्कार देखते ही बनता है। कुछ शब्दों का सौंदर्य तो ऐसा है कि सारा काव्य अपूर्व छटा से दीप्त हो उठा है–

"अंग–अंग नग जगमगति दीप सिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहे बड़ो उजेरो गेह।।"

(बिहारी)

"सोवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो।
कंजन कलिनगई कुंजन अलिनमई गोकुल की गलिनमई कै गई।।"

(देव)

इस काव्य के कवि–कलाकारों की शब्द–साधना से निखरे शब्द आज भी जीवित हैं और हमें सहज में मुग्ध कर लेते हैं। इसी प्रकार ग्वाल की रचना में कल्पना की सहज अभिव्यक्ति हुई है। इनकी भाषा अधिक प्रांजल न होकर बाजारूपन लिये हुए है, फिर भी वर्णन में सुन्दरता समायी हुई है। भाषा चमत्कार का एक उदाहरण निम्नांकित है–

"ग्वाल कवि चित्र में चकोरन के चैन भये।
पन्थिन की दूरि भई दूषन दरद की।।
जल पर थल पर महल अचल पर चांदी।
सी चमकि रही चांदनी सरद की।।"

(ग्वाल)

ऐसा कोई अन्य फल नहीं होगा जहाँ भाषा समृद्धि के ऐसे दुर्लभ प्रमाण मिलते हों कि मात्र अलंकार को लेकर ही पूरे–पूरे ग्रंथों की रचना कर दी जाए। अलंकार गंगा (श्रीपति), कंठाभूषण (भूपति), अलंकार रत्नाकार (वंशीधर), अलंकार दीपक (शम्भूनाथ), अलंकार दर्पण (गुमान मिश्र), अलंकार मणिमंजरी (मदषिनाथ), काव्याभरण (चन्दन), अलंकार चिन्तामणि (प्रतापसिंह), अलंकार आभा (चतुर्भुज), अलंकार प्रकाश (जगदीश), इत्यादि मात्र अलंकारों को भाषा में प्रस्तुत करने का सतुत्य प्रयास है। इन कवियों ने सवैया, कवित्र, दोहे अधिक लिखे हैं जो इनके वर्ण्य विषय के लिये पूरी तरह उपयुक्त छन्द थे। इन्होंने एक ओर लक्षण

ग्रंथ लिखकर हिंदी काव्य रसिकों को काव्यशास्त्र से परिचित कराया तो दूसरी ओर शृंगारपरक रचनाएं लिखकर काव्य में माधुर्य का संचार किया।

रीतिकाल में ब्रजभाषा गद्य भी खूब विकसित है। ललित, धार्मिक, उपयोगी गद्य के साथ–साथ ब्रजभाषा में कई टीकाएं भी लिखी हैं। काव्यग्रंथों में टीका–टिप्पणी ब्रजभाषा में ही अधिक लिखा गया है। कथा, जीवनी, आत्मचरित, संवाद, वर्णन, पत्र के अतिरिक्त ज्योतिष, इतिहास, गणित, भूगोल, चिकित्सा, धर्म दर्शन, काव्यशास्त्र भी ब्रजभाषा गद्य में लिखा गया। चौरासी वैष्णवन की भावना वार्ता नीति–विनोद, भूगोल पुरान, ईश्वर पार्वती संवाद, वेदांत निर्णय, सात स्वरूपन की भावना, वैष्णोपदेश आदि ब्रजभाषा में गद्य लिखे गए तथा टीकाकारों में प्रेमदास, प्रतापसिंह, हरिचरणदास, सुरति मिश्र आदि की टीकाएं महत्त्वपूर्ण हैं। बिहारी सतसई पर सर्वाधिक टीकाएं लिखी गईं।

रीतिकालीन ब्रजभाषा अपने शब्द–सौष्ठव, आनुप्रासिकता, मधुरता एवम् पदलालित्य के कारण काव्यभाषा के लिये उपयुक्त बन चुकी थी किन्तु उसमें कवियों ने तोड़–मरोड़ भी की। आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन ब्रजभाषा के इस दोष की ओर संकेत करते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा– "रीतिकाल में एक बड़े अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिये थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची, उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिये थी... यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर बल दिया जाता तो फिर शब्दों को तोड़–मरोड़कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता, पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई, जिससे भाषा में बहुत गड़बड़ी बनी रहे।[3]" इस मत से सहमत अवश्य हुआ जा सकता है किन्तु रीतिकाल की देन को किसी भी प्रकार से ब्रजभाषा से अलग नहीं किया जा सकता।

इस भाषा ने पूर्ण मनोयोग से लगभग 200 वर्षों के इतिहास को अपने में समेटा है। अलंकार, रस, चमत्कारपूर्ण शब्द–योजना, लाक्षणिकता, वाग्–विदग्धता, व्यंजनात्मकता आदि सभी कुछ इसी काल का अप्रतिम देन हैं। 'साहित्य समाज का दर्पण है' वाली उक्ति को इस काल के साहित्य ने अपने दम पर व्यक्त किया है अन्यथा अन्य क्षेत्रों के कवियों को अपनी ओर लुभाने वाली यह भाषा यूं ही जनप्रिय से साहित्य की भाषा न बनती। हिंदी क्षेत्र की 'बोली' से उठकर 'भाषा' का पद प्राप्त करना कोई छोटी उपलब्धि नहीं है। रीतिकाल के

राज्याश्रयों की छत्रछाया में ब्रज को पूर्ण रूप से पनपने का अवसर मिला। ब्रज शायद अपने इस रूप में दिखाई ही न देती यदि इसे उपयुक्त परिवेश न मिला होता। यह अपने युगीन समय, समाज, परिवेश को पूरी तरह से व्यक्त करती है। रीतिकाल में ब्रजभाषा अपने चरम यौवन पर थी। भले ही आधुनिक साहित्य से इसके सौंदर्य की सीमाएं घट गईं क्योंकि परिवेश रीतिकालीन ब्रजभाषा के अनुकूल भी नहीं था किन्तु भारतेन्दु, द्विवेदी और छायावादी युग पर उसकी छटा बनी रही है और भाषा का सौंदर्य नए युग के आगमन के लिये कहा जा सकता है कि रीतिकाल पूरी तरह से उसके लिए एक उपजाऊ भूमि की तरह था। पूर्ण रूप से इसी भाषा के लिये तैयार परिवेश ने उसके चहुँमुखी विकास के द्वार खोल दिए। हिंदी साहित्य के इतिहास में ब्रजभाषा की अपने क्षेत्र में अनुपम और अद्वितीय देन रही है।

सन्दर्भ सूची :

1. पल्लव, सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 45–46
2. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहबाद–1, छठा संस्करण, 2009, पृष्ठ 233
3. वही पृष्ठ 251

डॉ. संगीता वर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्रः– 9811917248
ई–मेलः sangeetavermaknc@gmail.com

अपराध जीवी जनजातीय अधिनियम और हिन्दी उपन्यास

अपराध एक वंशानुगत प्रक्रिया नहीं अपितु परिस्थितियों की उत्पत्ति है क्योंकि यदि चयन की छूट हो तो कोई भी व्यक्ति अपराध का रास्ता नहीं चुनना चाहता। परिस्थितियाँ लोगों को ऐसा करने के लिये मजबूर कर देती हैं। लेकिन भारतीय परिपेक्ष्य में अंग्रेज़ों के समय से कुछ जनजातियों को 'जरायम पेशा' या 'अपराध' जीवी जनजाति घोषित कर दिया था। इन जनजातियों के संबंध में यह मान लिया गया था कि यह जनजातियाँ अपराध करने के लिये ही पैदा होती हैं अथवा अपनी जीविका चलाने के लिये यह जनजातियाँ अपराध ा के अलावा कोई और रोज़गार नहीं चुनतीं। आज़ादी से पूर्व ही अंग्रेज़ों ने कुछ जनजातियों जैसे मीणा, भील, बाबेरिया, सन्यासी, नायक, बंजारे, कंजर, साँसी, नट, मदारी, पारधी, हाबूड़े आदि को पूर्ण रूप से अपराधी घोषित कर दिया था। वास्तव में अंग्रेज़ों द्वारा जंगलों के कटाव के कारण अनेक जनजातियों का जीवन अस्त–व्यस्त हो गया था। जिसके कारण निरन्तर विद्रोह करती तथा अपनी स्वतंत्रता के लिये सक्रिय यह जनजातियाँ अंग्रेज़ों के लिये एक समस्या बनती जा रही थीं। इन पर अंकुश रखना अंग्रेज़ों के लिये मुश्क़िल हो रहा था क्योंकि यह जनजातियाँ किसी भी सरकारी नियंत्रण में नहीं थीं। इनके लिये एक नए कानून की आवश्यकता थी। इसकी अनुमति उन्होंने इंग्लैंड की रानी से ले ली थी।

अंग्रेज़ों ने इन जनजातियों को नियंत्रित करने के लिये एक ऐसा कानून बनाया कि जिनमे यह जनजातियाँ जन्म से ही 'क्रिमिनल', 'चोर', 'गुनहगार', 'डाकू' आदि घोषित कर दी गयीं। इससे अब सारे आदिवासी कानून की नज़रों में 'बाय बर्थ क्रिमिनल' माने जाने लगे। इस कानून के बनते ही आदिवासियों को पकड़कर मृत्युदंड देना उन्हें गुलाम बनाकर अनेक विकास कार्यो में लगाना था फिर उन्हें करागृह में उम्र भर के लिए डाल देना बहुत आसान हो गया। इस कानून का पूरा फायदा अंग्रेज़ी हुकूमत ने उठाया। जन्म से गुनहगार जनजातियों को घोषित करने का क़ायदा इस प्रकार हिन्दुस्तान में लागू हो गया था। एम.सी. मीणा के अनुसार–

"हैबीस कार्पस अधिनियम जिसे अंग्रेज़ शासकों ने भारत में लागू किया था। इसका उपयोग भारतीय रजवाड़ों ने दुगने उत्साह से किया, 'क्योंकि इस कानून से इन जनजातियों के नेस्ताबूद करने का उनका षड़यंत्रकारी मनसूबा पूरा होता था। इस प्रकार भारत देश के पूर्व शासकों को आदतन अपराधी सिद्ध करके उनके खिलाफ बड़े कानून बना दिए गए। यहाँ तक कि राजपूतों ने अपने विश्वासी मीणा जनजाति को भी अपराध की श्रेणी में रखवा दिया।"[1]

संवैधानिक तौर पर यह कानून इतना सख्त था कि इन जनजातियों में पैदा होने वाला हर बच्चा जन्म से अपराधी मान लिया जाता था। भले ही इनमें से कोई खेती, पशुपालन, जंगल की रखवाली, महुआ की शराब बनाने जैसे काम करके अपना जीवनयापन करता हो। इस एक्ट के अनुसार 16 वर्ष की आयु होते ही हर नौजवान को (उपर्युक्त जनजातियों के) सुबह–शाम थाने में हाजिरी देनी ज़रूरी थी ताकि यह सिद्ध किया जा सके कि वह इस बीच किसी चोरी, हत्या या अन्य अपराधिक गतिविधि में संलग्न नहीं था। स्वयं पुलिस भी कोई असामान्य घटना होने पर सबसे पहले इनकी खोज करने इनके घरों में पहुँच जाती है। यदि यह वहां नहीं मिलते तो यह मान लिया जाता था कि यह अपराध इन्होंने ही किया है और इन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। इसी अमानुषता को व्यक्त करती है महादेव टोप्पो की यह पंक्तियाँ–

"छोटे भाई हमारे! पुलिस की निगाहों में छात्र नहीं/मोटर साइकिल लुटेरे हैं। बैंक डकैत हैं या फिर झारखण्डी उग्रवादी"[2]

अपनी पहचान को बार–बार पुलिस के सामने प्रमाणित करना भी मनुष्य के स्वाभिमान का हनन करना है। इसी प्रकार का अनुभव भुवन लाल सोरी की पंक्तियों में दिखाई देता है–

"ज़रा सी आहट पे। चौकन्ना हर शख़्स। शहर से लौटते ही दिन में चार बार पूछते पुलिस के जवानों की। टोह लेती निगाहें मुझे अपने ही घर में। प्रमाणित करने के लिये प्रस्तुत करना पड़ता है मुखिया का स्वीकृति–पत्र। पर गवाह है मेरा गांव जिसने देखा है। झुरमुटों में छिपा मेरा बचपन"[3]

इन जनजातियों को अपराधी करार करने से पूर्व इनके उद्भव के संबंध में अनेक विचार मिलते हैं जिनमें ज़्यादातर विद्वान इसी विचार पर सहमत हैं कि इन अपराधी जनजातियों का उद्भव प्राचीन आदिवासियों से हुआ है। यह

आदिवासी मध्य एशिया के रहने वालों के आक्रमणों के कारण इधर–उधर हो गए। ऐसे आदिवासी जिनको रहने का समुचित स्थान नहीं मिला, इधर–उधर घूमते रहे। समय के साथ–साथ घूमना उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया तथा इस प्रकार का यायावरी जीवन इन्हें रास आ गया। इस यायावरी जीवन में स्थायी रोज़गार संभव नहीं था। इसलिए कुछ लोगों को ईमानदारी की कमाई छोड़कर चोरी करना आसान प्रतीत हुआ। इस संबंध में एम.सी. मीणा अपने लेख 'तथाकथित जरायम पेशा जनजातियों की कष्टप्रद गाथा में लिखते हैं–

"तथाकथित अपराधी जनजातियाँ प्रायः भारत की मूल निवासी जनजातियाँ ही थीं और इनका गौरवपूर्ण अतीत था। प्रसिद्ध इतिहासकार ने 'एनल्स एण्ड ऐन्टीक्टीस' ऑफ राजस्थान में लिखा है। सब तथ्य सिद्ध करते हैं कि राजपूत विजेता हैं और सब पहाड़ी लोग चाहे वे कोल, झील, रिनायों, गोंड, बैरवा या सूरजन हो, सभी भारत के मूल निवासी हैं। मूल निवासियों में मीणा जनजाति को भी गिना जा सकता है। मीणा, गोंड, भील, सेवियास, सुरजन, अहीर, गूजर और वे जो नरबुदा, नोनो महानदी, सरगुजा और छोटा नागपुर के जंगलों में रहते हैं। इनमें से बहुत तो आदम ज़िंदगी जीते हैं और इनकी बोलियां और रहने के तरीक़े अलग–अलग हैं। ये लोग धरती पुत्र या जंगल की संतान कहलाने में ही संतुष्ट रहे हैं जबकि इनके विजेता राजपूत अपने को देवपुत्र बताते रहे।"[4]

हमारे देश को आज़ादी प्राप्त होने के बाद शोचनीय स्थितियों में जी रहीं तथाकथित अपराधजीवी जनजातियों के प्रति भारतीय सरकार के दृष्टिकोण में अनुकूल परिवर्तन हुआ और यह महसूस किया गया कि अपराधजीवी जनजाति अधिनियम की व्यवस्थाएँ स्वतंत्र भारत के गौरव और गरिमा से मेल नहीं खाती। इसलिये इस दिशा में पहले कदम के रूप में भारत सरकार ने सितम्बर 1949 में, एक 'अपराध जीवी जनजाति अधिनियम जांच समिति' नियुक्त की जिसके अध्यक्ष अनन्त शयनम अयंगर थे। इस समिति का उद्देश्य अधिनियम और उसके कार्यान्वयन की जांच करने के साथ–साथ उसमें आवश्यक संशोधन करने या उसके निर्लोप करने के बारे में अपनी राय प्रस्तुत करना था। अयंगर समिति की रिपोर्ट के अनुसार 1924 का जरायम पेशा जनजाति अधिनियम 1952 में विखण्डित कर दिया गया। उसके स्थान पर 'अभ्यासिक

अपराधी अधिनियम लागू किया गया जिसके अनुसार दण्ड सम्बंधी विचार करने का अधिकार केवल उन्हीं लोगों के लिए इस्तेमाल किया जाएगा जो आदतन अपराध करते थे, इससे एक आधारभूत परिवर्तन हुआ। अपराध की ज़िम्मेदारी अब पूरे समुदाय से हटकर केवल व्यक्ति विशेष की हो गयी। सरकार द्वारा 'अपराध जीवी जनजाति अधिनियम' की समाप्ति के पश्चात् आज भी भारतीय समाज में इन जनजातियों के प्रति आम आदमी तथा पुलिस दोनों का नज़रिया अपराधिक ही रहता है। गांव के ज़मींदार, गुंडे उन पर अत्याचार करते हैं और पुलिस भी इस संबंध में ज़मींदारों का ही समर्थन करती है। इनके इस दुःख और शोषण की अभिव्यक्ति हिन्दी उपन्यासों में भी हुई है। इस संबंध ा में रागेय राधव कृत 'कब तक पुकारू' शिव प्रसाद सिंह कृत 'शैलूष', मैत्रेयी पुष्पा 'अल्मा कबूतरी' तथा लक्ष्मण गायकवाड़ कृत 'वकील पारधी' में क्रमशः करनट, कबूतरा तथा पारधी जनजातियों का शोषण और उत्पीड़न आसानी से देखा जा सकता है।

'कब तक पुकारूँ' उपन्यास के माध्यम से करनयें का शोषण दिखलाते हुए रागेय राधव बोलते हैं कि समाज में नीच से नीच जात भी करनटों को नीची नज़रों से देखती हैं। समाज व कानून के रखवाले इनका मनमाना शोषण करते हैं। करनट सिर्फ इतना जानते हैं कि सिपाही में बड़ी ताक़त होती है, वह राजा का आदमी होता है। वह सबसे घूस लेता है। गांव के लोग उससे डरते हैं। वह बड़ी जातों में उठता–बैठता है। वह जिधर जाता है उधर ही नट दौड़कर छिप जाते हैं, चाहे जिस नटनी कंजरी को पकड़ कर ले जाता है। बिना कुछ किए नटों को थाने में झूठे इल्ज़ामों में बंद कर देता है। वहां उन्हें चोर कहा जता है, बेतों से पीटा जाता है। कभी–कभी गुड़ के पानी के छींटे दिए जाते हैं जिनसे चींटे लग जाते और देह सूज जाती है। उन्हें हमेशा गालियां दी जाती हैं। जरा किसी ने विद्रोह में सिर उठाया तो वह जेल की हवा खाता है। इसीलिए करनट स्वीकार कर चुके हैं कि हम नट हैं। हमारे पास कुछ नहीं, हम जुआरी, चोर–उचक्के, बेईमान, कमीने, धोखेबाज़ और झूठे हैं। हमारी औरतें कुतियों की तरह रहती हैं। हम किसी का भला नहीं कर पाते, हमें मौक़ा मिलता है तो हम लोगों को ठगने का जतन करते हैं। भूखे मरते किसान भी हमसे अच्छे हैं। पर हम बेघर कुत्ते की तरह घूम–घूम कर झूठन खाने को अपनी आज़ादी समझते हैं। मनुष्य जीवन मिलने पर हमें बैलों की तरह जुतना पड़ता है।

"हम जरायम पेशा हैं, हमारी कोई इज़्ज़त नहीं है। कोई आसरा नहीं, कोई मददगार नहीं है। अगर है तो भगवान होगा, मगर भगवान आदमी के बीच बोलता नहीं। हमारे पास ज़मीनें नहीं, कुछ नहीं, आसमान के नीचे सोते हैं, ध रती हमारी माता है। हम घास की तरह पैदा होते हैं, रौंदे जाते हैं। हमारी औरतों को पुलिस के सिपाही दूब समझ कर चर जाते हैं।[5]

वास्तव में हमारे समाज का दोगलापन करनट जैसी जनजातियों को जरायम पेशा साबित करने में साफ दिखाई देता है क्योंकि स्पष्टतः कोई जाति जन्म से अपराधी नहीं होती। आर्थिक, सामाजिक विषमता तथा भयंकर शोषण इन्हें अपराध करने पर मजबूर करते हैं। जब कज्जा जातियाँ (गैर जनजातियाँ) यह मानने को तैयार ही नहीं होतीं कि यह जनजातियाँ बिना अपराध या चोरी किये भी रह सकती हैं तब जातियाँ यदि मेहनत करें तो भी इन्हें अपराधिक दृष्टि से देखा जाएगा। वास्तव में यह नीच कही जाने वाली जनजातियाँ भी मूलतः मनुष्य हैं, लेकिन समाज की नज़रों में वह ऐसे गन्दे कीड़े हैं जिनके मरने का समाज के कोई दर्द नहीं। कज्जा लोगों की नज़रों में—"करनट कभी बेकसूर नहीं होता, अगर तूने कतल नहीं किया तब भी मानना ही होगा कि तूने कतल किया है।"[6]

'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा बताती है। कि आज भी यदि कबूतरा जनजाति के व्यक्ति ईमानदारी से जीवन यापन करना चाहें तो उनके लिये परिस्थितियाँ वैसी ही मुश्किल हैं। समाज के ठेकेदार यह बरदाश्त नहीं कर सकते कि विमुक्त जनजातियों में चेतना जाग उठे। इन जनजातियों को रोटी मिलते रहना ही बहुत है। न्याय कि इन्हें आशा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि न्याय पर अधिकार सिर्फ कज्जाओं (सम्पन्न वर्ग) का है। क्योंकि हथगोला, पिस्तौल, डंडा, रायफल जैसी ताक़तें उनके पास हैं। इसलिए 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में रामसिंह एक विद्रोही और खतरनाक बीमारी है क्योंकि वह मास्टर बनकर कज्जाओं को उनके हक़ दिलाने की बात करता है।

पुलिस इस बीमारी फैलाने वाले कीटाणु से डर गयी। शांति व्यवस्था की स्वस्थ परम्परा में गड़बड़ी फैलाने वाला आदमी, बिना लिखे क़ायदों से चलते आ रहे फायदेमंद सिलसिले को तोड़ने का अपराधी है। इसलिये उसके लिये कड़ी से कड़ी सज़ा भी कम है। पुलिस उसे चोरी करने, डाका डालने, हत्याएं करने को प्रेरित कर उसे उसी दलदल में दबाए रखना चाहती है क्योंकि ये (रामसिंह

जैसे कबूतरा) अपना व्यवसाय बदलेंगे तो पुलिस को डर है कि वह महीना–हफ्ता तो क्या पगार से भी तरस जायेंगे। अभी तो यह कबूतरा आरक्षण के ज़रिये बढ़े आ रहे हैं। फिर कहीं खुदबखुद जागरुक न हो जाएं। रामसिंह प्रशासन तथा समाज के दोगलेपन को समझ गया था, इसीलिये स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री की जिन पंक्तियों को अपनी कॉपी में ऐसे सजा रखा था जैसे वह उसकी जिन्दगी के विधान की फूल गुथी माला हो और जिसके एक–एक शब्द को वह सूंघता और उसकी सुगन्ध पूरे डेरे में फैल जाती। लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात् भी संवैधानिक दुराग्रह की इन्हीं स्थितियों से अब उसे उन शब्दों से बदबू मारने लगी थी–

"आज़ादी के बाद सड़ा दुर्गन्ध मारता इतिहास, कॉपी के पन्ने चिंदी–चिंदी कर डालें। झूठा मुँह, झूठी इबारत बोलने के लिये बोले गए चमत्कारी जुमले। ढोंग गंदा खेल।"[7]

देश स्वतंत्र हुआ परन्तु इन अपराध जीवी जनजातियों पर से अपराध का दाग समाप्त नहीं हुआ। इसलिये 'वकील पारधी' उपन्यास में लक्ष्मण गायकवाड़ कहते हैं कि स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेज़ों के खिलाफ लड़ने वाले पारघी को स्वतंत्रता मिलने के बाद भी गुनहगारी कानून के अन्तर्गत सज़ा भुगतनी पड़ती है। जबकि अन्य जाति के लोग स्वतंत्रता सेनानी कहलाते हैं। कारागार से छूटने के कुछ ही दिनों बाद नई सरकार में वह मंत्री बनते हैं लेकिन पारघी जाति का व्यक्ति 'गुनहगार जात' से होने के कारण सज़ा भुगतता रहता है। इसी 'ठप्पे' के कारण पारधी जाति के लोग यदि खेती–बाड़ी करके पशुपालन करके, देशी शराब बनाकर ईमानदारी का जीवन जीना चाहे तो गांव के किसान, ज़मींदार तथा पुलिस सब इनका विरोध करते हैं। गांव में कहीं भी, कुछ भी घट जाए, सबसे पहले इनके घरों की तलाशी होने लगती है। इनके पुरुषों को पुलिस मार–मार के ज़बरदस्ती न किए गए अपराध भी स्वीकारने को मजबूर करती है। इनकी पूरी बस्ती जला दी जाती है लेकिन इनके पक्ष में किसी के मुँह से आवाज़ नहीं निकलती। हर राजनेता अपने विरोधी को कष्ट पहुँचाने के लिये इनका उपयोग करता है और फिर दूध से मक्खी की तरह बाहर फेंक देता है। इनकी स्त्रियों का निरन्तर यौन उत्पीड़न होता है। जंगलों में अब सरकारी नियंत्रण है जिससे यह लोग अब शिकार नहीं कर सकते, लकड़ियाँ नहीं काट सकते। गांव में महुए की शराब बनाकर बेचते हैं तो

'सरकारी शराब' बनाने वाली कंपनियां इन्हें बरबाद करना चाहती हैं। गांव वाले यह बरदाश्त नहीं कर पाते कि पारधी लोग ईमानदारी से पैसा कमाकर उनकी बराबरी करें। पारधियों के मृतकों को, न गांव वालों के, न दलितों की शमशान भूमि में जलाने के लिये दो गज़ ज़मीन मिलती है। कुत्ते से भी बदतर वह अपनी ज़िंदगी मानते हैं। गांव के रहिवासी होने का प्रमाण–पत्र भी उन्हें सरपंच नहीं देता।

"तुम्हें गांव में जब तक रहना है रहो, पर तुम्हें गांव के रहिवासी होने का प्रमाण–पत्र हम नहीं दे पायेंगे।"[8]

शिव प्रसाद सिंह 'शैलूष उपन्यास में नट बताते हैं कि नट जरायम पेशों से अलग होकर मुख्यधारा में शामिल होने के लिये अनेक प्रयत्न कर रहे हैं लेकिन मुख्यधारा में शामिल होने के लिये इन्हें क्लीन चिट नहीं मिल पा रही है। नेवले, सियार और लोमड़ियों को मारकर भूख मिटाने को विवश हैं। ऐसा लगता है जैसे अपने जीवन में सुधारों के नाम पर वह शैलूष एक दिखावटी अभिमान ढो रहे हैं। मुख्यधारा में शामिल होने के लिये यह अपने प्राचीन व्यवसाय छोड़ने को तैयार हैं परन्तु इसके बदले में भूमि, कृषि या अन्य व्यवसाय भी तो मिलने चाहिये जिनसे ये अपना जीवन जी सकें। अन्यथा यह भूखे मर जायेंगे या विवश होकर अपराध के रास्ते में ही लीन रहेंगे।

वास्तव में जन सहानुभूति की कमी इन जनजातियों के पुनर्वास में बहुत बड़ी बाधा है। ऐसा अक्सर देखने में आता है कि जिन क्षेत्रों में इन जनजातियों को पुनर्वासित किया गया है वहां के स्थानीय लोग भी इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वहां के लोग इन जनजातियों को रोज़गार देने से मना कर देते हैं। उनमें विश्वास की भावना पैदा करना अति आवश्यक है। नये विचारों पर कार्य करने के संबंध में यह लोग संकोची होते हैं क्योंकि अब तक बाहरी लोगों में पुलिस से इनका सामना सर्वाधिक हुआ है। पुलिस द्वारा किया गया दुर्व्यवहार इन्हें अन्य बाहरी लोगों तथा विचारों पर विश्वास करने से रोकता है। यह जनजातियाँ ऐसी स्थिति में पहुँच गई हैं जहाँ उन्हें सहजता से विश्वास नहीं होता कि सरकार या कोई संस्था इनके कल्याण या विकास में रूचि रखती है। इस प्रकार के मनोविकारों को दूर करने के लिये इन जनजातियों के पुर्नावास में कार्यरत प्रशासक व नियोजकों को इस बात पर भली–भांति ध्यान देना चाहिये कि यह जनजातियाँ उद्यमी व बुद्धिमान हैं तथा इनके लिये ऐसी

योजनाएँ बनाएं जो इन्हें आकर्षित करें। इनके बच्चों का खर्चा उठाकर उनके खाने–पीने तथा स्वास्थ्य संबंधी बातों पर ध्यान दें। इनके लिये अनेक कुटीर उद्योग खोलें ताकि यह लोग ईमानदारी से आजीविका कमाकर आम जनजीवन का हिस्सा बन सकें।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. गुप्ता रमणिका (सम्पादक) आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, विशेषांक 2002, पृष्ठ 6 से तथाकथित अपराधी जनजातियों की कष्टप्रद गाथा।
2. गुप्ता रमणिका (सम्पादक) आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृष्ठ 49
3. उपरोक्त पृष्ठ 57
4. गुप्ता रमणिका, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, विशेषांक 2002, पृष्ठ 6। तथाकथित अपराधी जनजातियों की कष्टप्रद गाथा।
5. राधव, रांगेय कब तक पुकारूं द्वितीय संस्करण 1984, राजपाल एण्ड सन्स, पृष्ठ 117
6. उपरोक्त पृष्ठ 276
7. पुष्पा, मैत्रेयी, अल्मा कबूतरी, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 104
8. गायकवाड़, लक्ष्मण, वकील पारधी, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ 243

डॉ. भारती
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
सम्पर्क सूत्रः 981199257
ईमेलः bhartiknc1@gmail.com

हिन्दी तथा उर्दू काव्य में विरह वर्णन

प्रेमी–प्रेमिका के प्रेम में जब तक कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती तब तक यह प्रेम साधारण ही रहता है, परन्तु जब इन सम्बन्धों में बाधा उत्पन्न हो जाती है तो यह सम्बन्ध असाधारण रूप धारण कर लेते हैं। इस अवस्था को विरहावस्था कहते हैं। जब तक प्रेम में विरह उत्पन्न न हो तब तक वह उत्कृष्टता प्रदान नहीं कर पाता। भारतीय साहित्यकारों ने मनुष्य का ही नहीं बल्कि भगवान के प्रेम का वर्णन भी अपने साहित्य में किया हैं, चाहे वह सीता–राम हो या राध ाा–कृष्ण। हिन्दी तथा उर्दू दोनों ही साहित्य में विरह का अपना बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान है।

प्राचीनकाल से ही साहित्यकारों ने स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों को लेकर अनेक ग्रन्थ रचे तथा उनके प्रेम सम्बन्धों को अपनी–अपनी शैली से प्रस्तुत किया और वियोग में तड़पते नायक–नायिका के विरह को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। कुछ साहित्यकारों ने दूसरों के प्रेम का वर्णन अपने साहित्य में प्रस्तुत किया तथा कुछ ने अपने ही जीवन में चल रहे वियोग का वर्णन किया है। यह वर्णन गद्य से अधिक पद्य में प्रभावशाली माना गया है। हिन्दी तथा उर्दू काव्य के लेखकों ने पद्य के माध्यम से जिस विरह वर्णन को अपने साहित्य में रचा, वह लेखक हिन्दी में कवि तथा उर्दू में शायर कहे जाते हैं। लेकिन दोनों ही साहित्य में समानता होते हुए भी एक बड़ा अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। हिन्दी के कवियों ने अपने काव्य में जिस विरह का वर्णन किया है, वह नायिका से अधिक सम्बन्ध रखता है और नायिका को ही अधिक व्याकुल दर्शाता है, जबकि उर्दू काव्य में नायिका की अपेक्षा नायक को अधिक वियोग में तड़पते हुए दिखाया गया है। उर्दू काव्य में एक से बढ़कर एक शायर हुए हैं जिन्होंने शायरी में सच्चाई, सादगी, खुलूस, पवित्र इश्क़ और मासूम हुस्न के जज़्बात और ख़्यालात बयान किये जिसे हर वर्ग के लोग पसंद करते हैं और हृदय से इसे सराहते हैं। हिन्दी में अब्दुल रहमान, चन्दबरदाई, जायसी, मीरा, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद आदि ऐसे ही महान कवि हैं जिन्होंने अपने काव्य के माध यम से नायिका के विरह को बड़ी ही उदात्तता के साथ अपनी रचनाओं में वर्णित किया और हिन्दी काव्य को वैभवशाली बनाया। हिन्दी कवियों ने नायिका को अपने काव्य में किस प्रकार विरह रूपी अग्नि में जलता दिखाया है पहले उस पर प्रकाश डालते हैं। काव्य शास्त्रियों ने वियोग की कुछ दशाएँ

गिनाई हैं। ये दस होती हैंः– शरीर का ठीक से स्वस्थ न रहना, सन्ताप, पीलापन, दुर्बलता, अरुचि या कुछ भी अच्छा न लगना, धैर्य का अभाव, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, बेहोशी और मृत्यु। कुछ ने नींद का न आना भी एक वजह बताई है जो आमतौर से वर्णित होती है।

लगभग 11वीं शताब्दी के आसपास रचित अब्दुल रहमान कृत 'सन्देश रासक' में विरह का ऐसा ही उदात्त रूप देखने को मिलता है। इसमें नायिका ने मानसिक सन्ताप, चिन्ता, सतत रूदन, के साथ शरीर का पीला पड़ जाना, क्षीणता, मोह इन सभी की सूचनाएं दी हैं। यहां एक मार्मिक बात यह है कि नायिका अपने रूप को अपने प्रियतम की सम्पत्ति मानती है जो उसके प्रियतम को बहुत प्रिय था परन्तु विरह रूपी चोर उसे चुराकर ले गया है। अगर किसी दिन उसका प्रियतम अर्थात् स्वामी आ गया और अपना सौन्दर्य रूपी धन वापिस मांगने लगा तो वह क्या उत्तर देगी। नायिका जानना चाहती है कि किस प्रकार स्वामी के विरह में उसका रूप सौन्दर्य बिगड़ चुका है। उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैंः–

सन्देसउ सवित्थरिउ हउं कहणह असमत्थ।
भण दिय इक्कति बालमडडू बेबि समाणा हत्थ।।
जो कालंगुलि मूंदऽउ सो बांहडी समाइ।
वाणी तगइ विओइ कादभि ही जाटइ हियउ।।
जइ इम माणसु होइ नेइ त साचउ जजियइ।

इन पंक्तियों में नायिका कहती है कि सन्देश तो इतना अधिक है कि मैं कह नहीं सकती, बस प्रियतम से इतना कह देना कि वह दुर्बल हो गयी है, एक ही चूड़ी में दोनों हाथ आ जाते हैं और कन्नी उंगली की अंगूठी में पूरी बाह समा जाती है। और फिर अपने प्रिय से विनती करते हुए कहती है जैसे पानी कीचड़ से पृथक हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे वियोग में कलेजा फट जाए तभी प्रेम को सच्चा जानोगे। पूरा सन्देश रासक नायिका के ऐसे ही विरह रूपी सन्देशों से भरा पड़ा है और अपनी उदात्तता को दर्शाता है।

भक्तिकाल की प्रेमाख्यान काव्य परम्परा के महान सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने महाकाव्य पद्मावत में पद्मावती के माध्यम से विरह का जो वर्णन किया है वह अपने आप में अद्वितीय है। रत्नसेन की विरहिणी पत्नी

नागमती के वियोग वर्णन में तो जायसी ने कलेजा ही निकाल कर रख दिया है। रत्नसेन के वियोग में पद्मावती की विरहावस्था का वर्णन इन पंक्तियों में जायसी ने कितनी सूक्षमता से किया है देखियेः–

पद्मावति तेहि जोग संजोगाँ। परी प्रेम बस गहें वियागाँ।
नींद न परै रैनि जो आवा। सजे के बाँछ जान कोई लावा।।
दहै चाँद और चंदन चीरूं। दगध करें तन विरह गंभीरू।
कलप समान रैनि हठि बाढ़ी। तिल तिल मरि जुग–जुग बर गाढ़ी।।

ऊपर दी गई पंक्तियों में राजा रत्नसेन के प्रभाव स्वरूप पद्मावती उसके प्रेम में वशीभूत हो गई और उसके विरह की अनुभूति करने लगी। वह रत्नसेन के प्रेम में ऐसी रंग गई कि उसे उसके वियोग में रात होने पर भी नींद नहीं आती। उसे अपना बिस्तर ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे उस पर किसी ने कांटे बिछा दिए हों, उसे चंद्रमा और चंदन जैसे पदार्थ विरहावस्था के कारण दाहक प्रतीत होते थे और विरह की गम्भीर भावना उसके शरीर को जलाए डालती थी। उसे विरह के कारण छोटी सी रात्रि कल्प के समान लम्बी प्रतीत होती थी और उसका एक–एक क्षण युगों के समान कठिनता से व्यतीत होता था। उसके लिए क्षण युग बन गऐ थे। इस महाकाव्य में नायिका के विरह की जो गाथा है वैसी हमें किसी दूसरे काव्य में दिखाई नहीं देती। विरह का ऐसा चरमोत्कर्ष हमें शायद ही दूसरे काव्य में दिखाई पड़े। हिन्दी साहित्य में पहली बार जायसी ने ही मनुष्य के कष्ट से पक्षी तक को संवेदित होते हुए दर्शाया है। जायसी की विरहिणी नागमति वर्ष के बारह महीनों में विविध प्रकार के कष्टों का अनुभव करती हैं। इस महाकाव्य में जायसी की सूक्ष्म निरी क्षण शक्ति का ज्ञान सहज ही हो जाता है।

भक्तिकालीन कवयित्री मीरा बाई अपने आराध्य देव भगवान श्री कृष्ण के प्रति इतनी आसक्त थीं कि उन्हें हर क्षण अपने प्रवासी के आने की अनन्त प्रतीक्षा रहती थी। उनका विश्वास था कि उनका कृष्ण रूपी प्रियतम आयेगा और अवश्य आयेगा, जिसका अनुभव हमें विरहिणी मीरा की इन पंक्तियों में होता हैः–

कागा सबतन खाइयो, चुन–चुन खाइयो मांस।
दो नैना मत खाइयो, जामे पिया देखन की आस।।

रामायण में त्याग की प्रतिमूर्ति उर्मिला की राम वनवास प्रसंग में कही चर्चा ही नहीं है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने साहित्य से उपेक्षित पात्र उर्मिला के जीवन वृत्त को साकेत के माध्यम से पूर्ण रूप से दर्शाया है। साकेत का पूरा नवम सर्ग उर्मिला के विरह की करुण कथा है। इस सर्ग में उर्मिला की विरह वेदना का हृदय ग्राही वर्णन है। विरह की सभी दशाओं का चित्रण कवि ने किया है। उर्मिला लक्ष्मण के मार्ग की बाधा न बनकर विरह वेदना को सह लेती है, उसकी स्थिति बड़ी करुणादायक और दयनीय हैः–

नयनों को रोने दे, मन तू संकीर्ण न बन, प्रिय बैठे हैं!
आँखों से ओझल हो, गर्म नहीं वे कही, वही पैठे हैं।
आँख बता दे तू ही, तू हँसती या यथार्थ रोती है!
तेरे अधर दर्शन थे, या तू भर अश्रु बिन्दु ढोती है?

इसी प्रकार छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा के सम्पूर्ण काव्य में आद्योपान्त करुणा एवं वेदना की अश्रुधारा प्रवाहित हुई है, दुखवाद उनकी सिद्धि और साध ाना दोनों ही है। महादेवी वर्मा ने अपने सम्पूर्ण जीवन को विरह का जलजात माना है। उन्होंने अपनी इसी वेदना के माध्यम से अपने अज्ञात असीम प्रियतम के प्रति अपना आकुल प्रणय निवेदन किया है, वेदना का यह अथाह सागर उनको काव्य में अपनी चरम सीमा पर दिखाई पड़ता हैः–

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी उपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली,
मैं नीर भरी दुःख की बदली।

उर्दू शायरी में हम विरह का आरम्भ 'मीर तकी मीर' (1724) से कर सकते हैं जिन्हें उर्दू काव्य जगत में खुदाये सुखन (काव्य के स्वामी) के नाम से सम्बोधि ात किया जाता है। मीर की शायरी उनके अपने विरह की गाथा है। मीर अगर आकाश में चाँद को देखते थे तो उसमें उन्हें अपनी प्रेयसी नज़र आती थी जिसे देख वह बेहोश तक हो जाते थे। यहाँ तक कि उनके मुँह से झाग तक निकलने लगते थे। अपनी इस दशा को देख तड़पते हुए वह कहते हैंः–

न मरते हैं न नींद आती है न वो सूरत बिसरती है।
ये जीते जागते हम पर क़यामत सब गुज़रती है।

x x x x x x x x x x x x x

पत्ता–पत्ता बूटा–बूटा हाल हमारा जाने है।
जाने न जाने गुल ही न जाने बाग तो सारा जाने है।

नज़ीर अकबराबादी (1740) का जन्म दिल्ली में हुआ था, आप लगभग 100 वर्षों तक जीवित रहे। इनकी शायरी से पता लगता है कि वह बड़ी रंगीन तबियत के व्यक्ति थे। मोतीबाई नामक एक वैश्या से वह बड़ा प्रेम करते थे। वह संतोषी प्रकृति के मस्त जीव थे। उनकी लेखनी से कोई भी विषय बचा नहीं है। वह आम आदमी के शायर थे, उन्होंने अपने काव्य में विरह को कुछ इस प्रकार स्वर दिये हैंः–

ये कहते हैं कि आशिक़ छूट जाता है अज़ीयत से,
जब उसकी उम्र को लश्कर अजल का आनकर लूटे।

शेंख इब्राहीम ज़ौक़ (1789) की यादाश्त बड़ी ही तेज़ थी। शायरी अध्ययन का यह हाल था कि पुराने दोस्तों के साढ़े तीन सौ दीवानों को पढ़कर उनका संक्षिप्त संस्करण किया था। उनकी शायरी में विरह कुछ इस प्रकार हैः–

दर्दे दिल से लौटता हूँ, मेरा किसको दर्द है,
मैं हूँ लफ़्ज़े दर्द जिस पहलू में देखा दर्द है।

महाकवि मिर्ज़ा ग़ालिब (1797) का जन्म आगरा में हुआ था। ग़ालिब की शायरी में इश्क़–मुश्क़ के अतिरिक्त सूफ़ीवाद, अध्यात्मवाद का पुट पाया जाता है। पच्चीस वर्ष की आयु तक आते–आते ग़ालिब ने लगभग दो हज़ार आशार कह डाले थे। शायरी के इस शौक़ के साथ ग़ालिब के जीवन में शराबनोशी की लत ने भी घर कर लिया था। आईये इस महान शायर के विरह पर भी प्रकाश डालते हैंः–

यह न थी हमारी क़िस्मत कि विसाले यार होता
अगर और जीते रहते, यही इन्तेज़ार होता।

x x x x x x x x x x x x x

हमको उनसे वफ़ा की है उम्मीद,
जो नहीं जानते वफ़ा क्या है।

हसरत मोहानी (1875) ने अपनी शायरी की व्याकुलता को कुछ इस प्रकार शब्दों में पिरोया है:–

भुलाता लाख हूँ लेकिन बराबार याद आते हैं,
इलाही, तर्क़–ए–उल्फ़त पर वो क्योंकर याद आते हैं।

जिगर मुरादाबादी (1890) का वास्तविक नाम अली सिकन्दर था। उनकी पूरी शायरी में साकी मैयक़दा, हुस्न, इश्क़, जुनू, रिन्द इत्यादि शब्द बहुतायद से मिलते हैं। जिससे उनकी शायरी के विरह का बड़ा ही सुन्दर रूप देखने को मिलता है। वियोग में डूबे हुए उनके कुछ शेर देखिये:–

बताओ क्या तुम्हारे दिल पर गुज़रे,
अगर कोई तुम्हीं सा बेवफ़ा हो।

x x x x x x x x x x x x x

दुनिया के सितम याद न अपनी ही वफा याद,
अब मुझको नहीं कुछ भी मोहब्बत के सिवा याद।

विरह के इस वर्णन को फैज़ अहमद (1911) ने अपनी शायरी में कुछ इस प्रकार भव्यता प्रदान की है कि श्रोता मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा कर उठता है:–

कर रहा था ग़में जहाँ का हिसाब,
आज तुम याद बे हिसाब आये।

x x x x x x x x x x x x x

और क्या देखने को बाकी है, आपसे दिल लगा के देख लिया,
वह मेरे होके भी मेरे न हुए, उनको अपना बना के देख लिया।

अपनी शायरी की छाप फिल्मों में भी छोड़ने वाले शकील बदायूनी (1916) ने अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी से बी.ए. तक शिक्षा पाई थी। उनकी शायरी उनके अपने प्रेम का दर्पण है। वह जिस लड़की से प्रेम करते थे उस लड़की ने शकील से मिलन न हो पाने के कारण ज़हर खाकर अपनी जान दे दी थी।

उस दर्द से शकील कभी उभर नहीं पाये, अपने इस विरह को उन्होंने शब्दों में पिरोकर अपने प्रशंसकों को भावुक कर दियाः–

मेरी ज़िंदगी है ज़ालिम तेरे ग़म से आशकारा,
तेरा ग़म है दर हक़ीक़त मुझे ज़िंदगी से प्यारा।

x x x x x x x x x x x x x

सुबह का अफसाना कहकर शाम से, खेलता हूँ गर्दिशे अय्याम से,
उनकी याद, उनकी तमन्ना, उनका ग़म कह रही है ज़िंदगी आराम से।

शकील की भाँति ही जाँ निसार अख़्तर (1914) ने भी अलीगढ़ से ही शिक्षा प्राप्त की थी। वह ग़ालिब के बड़े प्रशंसक थे। आईये उनके विरह पर भी प्रकाश डालते हैंः–

"अशआर मेरे यूँ तो ज़माने के लिये हैं,
कुछ शेर फ़कत उनको सुनाने के लिये हैं।
ये इल्म के मसौदे ये रिसाले ये किताबें,
इक शख़्स की यादों को भुलाने के लिए है।

प्रसिद्ध फिल्मी शायर मजरूह सुल्तानपुरी (1919) ने अपने विरह को कुछ इस प्रकार स्वर प्रदान किये हैंः–

उठाए जा उनके सितम और जिए जा,
यूँ ही मुस्कुराये जा, आँसू पिये जा।
यही है मुहब्बत का दस्तूर–ए–दिल
वे ग़म दे तुझे तू दुआएं दिये जा।

अपनी शायरी के दम पर हिन्दी फिल्मों में सूर्य की भांति छा जाने वाले साहिर लुधियानवी (1922) का जीवन विरह से भरा पड़ा है। आपने अपनी शायरी में अपने नाकाम प्रेम को अधिक दर्शाया है और विरह के एक से बढ़कर एक सुन्दर गीत का निर्माण किया है। उनके काव्य में वियोग अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया हैः–

मेरे ख़्वाबों के झरोकों को सजाने वाले,
तेरे ख़्वाबों में कहीं मेरा गुज़र है कि नहीं।

पूछकर अपनी निगाहों से बता दे मुझको,
मेरी रातों के मुक़द्दर में सहर है कि नहीं।

उर्दू के इन शायरों ने अपने काव्य में जो रंग भरे हैं वह उनके प्रेम की उदात्तता को दर्शाते हैं। विरह में व्याकुल होतु हुए भी शायर अपनी प्रेयसी की निंदा नहीं करता, बल्कि उसकी प्रशंसा ही करता है और उसके सुखी रहने की दुआ मांगता है। इन शायरों की आत्मा प्रकृति की मर्मज्ञ थी। उनका हृदय सुन्दरता के हाव–भाव से परिचित था और प्रेम की अशान्ति और कोलाहल को जानता था। यही कारण है कि इन शायरों का कथन सुन्दरता और सच्चाई का ऐसा पालना है जिसमें जीवन की वास्तविकता पड़ी मुस्कुरा रही है। विरह के कारण शायर का हृदय इतना मासूम हो जाता है कि उसमें केवल अपनी प्रेयसी के लिए ही स्थान रहता है। अगर हम यह कहें कि हृदय की गइराईयों से शुद्ध होकर निकलने वाले भावों का नाम शायरी है तो गलत न होगा। जो वास्तविकता पर आधारित होती है, जो शायर के व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डालती है। विरह में तड़पता और छटपटाता शायर अपनी प्रेयसी के साथ न देने पर भी उससे बड़ी ही सादगी से बस यही कहता हैः–

तू चाहिये न तेरी वफ़ा चाहिये
अब तो नहीं मुझे कुछ भी तेरे ग़म के सिवा चाहिये
जन्नत की तमन्ना जिन्हें होगी, उन्हें होगी
हमको तो तेरे कूचे की कज़ा चाहिये

विरह रूपी प्रेम के इन सम्बन्धों को इन भारतीय साहित्यकारों ने अपने काव्य में बड़ी ही कुशलता से रचा है जो भारतीय जनमानस की संस्कृति में इस प्रकार से घुल–मिल गया है कि इसे अलग नहीं किया जा सकता। आज भारतीय जनमानस में करुणा, अहिंसा की जो भावना दिखाई देती है वह इसी प्रेम का विशाल रूप है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. चतुर्वेदी – आचार्य परशुराम
   सं. – मीराबाई की पदावली
   प्रकाशन – हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद

2. जायसी – मलिक मोहम्मद
पदमावती – वियोग खंड
प्रकाशन – साहित्य सदन, झांसी

3. द्विवेदी – हज़ारी प्रसाद
सं. – मैथलीशरण गुप्त कृत – सन्देश रासक
प्रकाशन – अशोक, नई दिल्ली

4. पालिवाली – कृष्ण दत्त
सं. – मैथलीशरण गुप्त कृत – साकेत नवम सर्ग
प्रकाशन – वाणी, नई दिल्ली

5. वर्मा – महादेवी
परिक्रमा
प्रकाशन – साहित्य भवन, इलाहाबाद

हिन्दी वर्णमाला

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ
ए	ऐ	ओ	औ	क	ख़	ग़
घ़	च़	छ	ज़	झ	ट	ठ
ड़	ढ	त	थ	द़	ध	न
प	फ	ब	भ	म	य	र
ल	व	श	ष	स	ह	

डॉ. मोहम्मद इसराइल
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
सम्पर्क सूत्रः 9818696278
ईमेलः israil786knc@gmail.com

'उर्वशी में नारी का स्वरूप'

'दिनकर' एक सजग रचनाकार है। मध्यकालीन साहित्य के बाद छायावाद तक आते-आते नारी विषयक दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर आया था। यह बात 'दिनकर' की दृष्टि में भी थी। उन्होंने नारी के बाह्य रूप को ही नहीं देखा, भीतर भी देखा है। तभी तो लिखा है- ''नारी के भीतर एक नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का संधान पुरूष तब पाता है जब शरीर की धारा, उछालते-उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँचकर निस्पन्द हो जाता है।''

'उर्वशी' में नारी के विभिन्न स्वरूपों एवं गुणों का वर्णन कवि ने किया है। प्रारम्भ में रचनाओं के माध्यम से नारी का जो स्वरूप उभारा गया है वह उच्छृंखल नारी का है। ये अप्सराएँ रूपवती हैं और मन को मोहनेवाली हैं, फिर भी मन से ये उच्छृंखल हैं। यही नहीं, उन्हें इसका अभिमान भी है। यही

कारण है कि वे कहती हैं -

''सहजन्ये, पर हम परियों को इतना भी रोना क्या?
किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या?
हम भी है मानती कि ज्यों ही प्रेम उगे, रूक जायें?
मिले जहाँ भी दान हृदय का, वही मग्न झुक जायें?
प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है;
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।
जनमीं हम किस लिए? मोद सब के मन में भरने को।
किसी एक को नहीं मुग्ध जीवन अर्पित करने को।
सृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन में,
किसी एक के लिए सुरभि हम नहीं सँजोती तन में।
''रचना की वेदना जगा जग में उमंग भरती है,
कभी देवता, कभी मनुज का आलिंगन करती है।'' 1

(रंभा का कथन, पृ. 29, प्रथम अंक)

अप्सराएँ पुरूषों को विविध पीड़ाओं से पीड़ित करती है। वे स्वयं प्रेम का न तो स्वरूप जानती हैं और न ही मूल्य ही पहचान पातीं। अत: प्रेम इनके यहाँ मनोविनोद है। उनमें समर्पण का सर्वथा अभाव होता है। अत: जिस प्रकार इन्हें चाहने वालों

की संख्या अधिक होती है उसी प्रकार ये भी बहुतों को चाहती हैं। और इस कर्म पर जहाँ मानवी शर्म के मारे सिर नहीं उठाती, वहीं अप्सराओं को इस पर गर्व है। उनके यहाँ रूप सर्वोपरि है और भावना मूल्यहीन। यही कारण है कि भूलोकवासी की प्रेम-भावना से उन्हें चिढ़ है। रम्भा के शब्दों में -

''जहाँ प्रेम राक्षसी भूख से क्षण-क्षण आकुलता है,
प्रथम ग्रास में ही यौवन की ज्योति निगल जाता है।
धर देता है भून रूप को दाहक आलिंगन से,
छवि को प्रभाहीन कर देता ताप-तप्त चुम्बन से;
पतझर का उपमान बना देता वाटिका हरी को,
और चूमता रहता फिर सुन्दरता की ठठरी को।
इसी देव की बाँहों में झुलसेंगी अब परियाँ भी,
यौवन को कर भस्म बनेगी माता अप्सरियाँ भी।'' 2

(प्रथम अंक, रम्भा, पृ. 31)

इस प्रकार अप्सराओं के माध्यम से कवि ने उन नारियों का चित्रण किया है जो रूप को ही महत्त्व देती हैं। जो अहंकार एवं चरित्रहीनता से युक्त है। सच पूछा जाय, तो नारी का यह रूप नारी जीवन का खोखलापन है।

नारी जब किसी एक व्यक्ति के प्रति अपना सर्चस्व समर्पण करके उसके मिलन में सुख और वियोग में दुःख का अनुभव करती है तब नारी का वह रूप प्रेमिका की श्रेणी में आता है। उर्वशी नारी के इसी रूप का प्रतीक है। वह अपनी सखियों से अधिक सुन्दर है, फिर भी वह यह जानकर उसे हेय समझने लगी है कि वह पुरूरवा से प्रेम करती है। चित्र लेखा यद्यपि उर्वशी के प्रति कुछ अधिक सहानुभूति रखती है। अन्य अप्सराएँ स्वर्ग की मर्यादा भंग से क्षुब्ध है। रम्भा कहती है -

''सहजन्ये, पर, हम परियों का इतना भी रोना क्या?
किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या?
हम भी हैं मानवी कि ज्यों ही प्रेम उगे, रूक जायें?
मिले जहाँ भी दान हृदय का, वहीं मग्न झुक जायें?
प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है;
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।'' 3

(प्रथम अंक, रंभा, पृ. 29)

प्रेमिका प्रिय के प्रति अनन्य भाव से आसक्त होती है। प्रिय के बिना उसे संसार का समस्त सुख व्यर्थ जान पड़ता है और प्रिय के साथ वह दु:ख में भी मग्न रहती है। यही कारण है कि उर्वशी को स्वर्ग भी अच्छा नहीं लगता। यथा –

''स्वर्ग-स्वर्ग मत कहो, स्वर्ग में सब सौभाग्य भरा है,
पर, इस महास्वर्ग में मेरे हित क्या आज धरा है?
स्वर्ग स्वप्न का जाल, सत्य का स्पर्श खोजती हूँ मैं,
नहीं कल्पना का सुख, जीवित हर्ष खोजती हूँ मैं।
तृप्ति नहीं अब मुझे साँस भर-भर सौरभ पीने से,
ऊब गई हूँ दबा कण्ठ, नीरव रहकर जीने से।
यही चाहती हूँ कि गन्ध को तन हो, उसे धरूँ मैं,
उड़ते हुए अदेह स्वप्न को बाँहों में जकड़ूँ मैं,
निराकार मन की उमंग को रूप कहीं दे पाऊँ,
फूटे तन की आग और मैं उसमें तैर नहाऊँ।
कहती हूँ, इसलिए, चित्रलेखे! मत घेर लगाओ,
जैसे भी हो मुझे आज प्रिय के समीप पहुँचाओ।'' 4

(प्रथम अंक, पृ. 33-34)

ऐसी देशा में प्रिय से मिलते ही उसकी अतृप्ति और अधिक भड़क उठती है। अत: पुरूरवा के मिलते ही उर्वशी की कामना में घी की आहुति पड़ जाती है। दोनों समय चक्र को भूल से जाते हैं। दोनों बेसुध हैं। उर्वशी कहती है-

''जब से हम-तुम मिले, न जाने, क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरूद्गति से अतीत-गह्वर में। '' 5

(उर्वशी, पृ. 52, तृतीय अंक)

यही समय स्वर्गलोक में उर्वशी के लिए अजगर समान हो गया था। सूर्य आकाश से अस्त होने का नाम नहीं लेता था। रात्रि कल्प-सी लगती थी। यथा –

''किन्तु हाय, जब तुम्हें देख मैं सुरपुर से लौटी थी,
यही काल अजगर-समान प्राणों पर बैठ गया था।
उदित सूर्य नभ से जाने का नाम नहीं लेता था,
कल्प बिताये बिना न हटती थीं ये काल-निशाएँ । '' 6

(उर्वशी, पृ. 52)

पुरूष जल्दी ही आसक्त हो जाता है और जल्दी ही अनासक्त। पुरूरवा जिस उर्वशी के लिए व्याकुल था, कहना न होगा कि इस चाह में देह-भूमि भी शामिल थी, उर्वशी के मिलने के कुछ समय बाद वह अनासक्ति योग की बातें करने लगा। इससे उर्वशी के हृदय को चोट पहुँचती है। वह सोचती है कि जिस अनासक्ति को मैं स्वर्ग में छोड़ आई थी, वही इस धरती पर आने पर भी मिली। साथ ही वह इस तथ्य को भलीभाँति जानती है कि पुरूरवा के हृदय में जब तक काम-भावना है तभी तक वह उस पर राज कर सकती है। यथा -

''यह भी कैसी द्विधा? देवता गंधों के घेरे से
निकल नहीं मधुपूर्ण पुष्प का चुम्बन ले सकते हैं।
और देहधर्मी नर फूलों के शरीर को तज कर
ललचाता है दूर गंध के नभ में उड़ जाने को।
अनासक्ति तुम कहो, किन्तु, इस द्विधा-ग्रस्त मानव की
झाँकी तुम में देख मुझे, जानें क्यों, भय लगता है।'' 7

(उर्वशी, पृ. 55, तृतीय अंक)

इस भय से भयभीत उर्वशी पुरूरवा को अनेक प्रकार से दैहिक प्रेम के लिए उकसाती है और अपने अधरों के सुधापान कराने का प्रलोभन देती है। यथा -

''आ मेरे प्यारे तृषित! श्रान्त! अन्तःसर में मज्जित करके,
हर लूँगी मन की तपन चाँदनी, फूलों से सज्जित करके।
रसमयी मेघमाला बनकर मैं तुझे घेर छा जाऊँगी,
फूलों की छाँह-तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊँगी। '' 8

(उर्वशी, पृ. 64, तृतीय अंक)

वह प्रिय के प्रेम में इतनी दीवानी है कि उसे प्रिय की ही प्रबल आकांक्षा है। वह प्रिय के बाँहें में झूलना चाहती है। उर्वशी एक समर्पित प्रेमिका है। उसमें विवेक भी है और भावना भी। वह बुद्धि की तुलना में भावना को प्रबल मानती है। यथा-

''रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती हैं,
चित्र और प्रतिमा, इनमें जो जीवन लहराता है।,
वह सूझों से नहीं, पत्र-पाषाणों में आया है,
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रूधिर से। ''

(उर्वशी का कथन, पृ. 65-66, तृतीय अंक)

उर्वशी के अनुसार प्रेम से नर नारी, दोनों का ही उत्थान होता है। इससे परमसत्ता का ज्ञान भी संभव है, परमसत्ता के ज्ञान में वह बाधक नहीं साधक है। यथा –

''किसने कहा तुम्हें जो नारी नर को जान चुकी है
उसके लिए अलभ्य ज्ञान हो गया परमसत्ता का,
और पुरूष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को,
देश-काल को भेद गगन में उठने योग्य नहीं है?
ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से,
इसी अपावन में, अदृश्य वह पावन सना हुआ। '' 10

('उर्वशी', पृ. 81)

प्रेम हृदय प्रधान है और बुद्धि तर्क प्रधान। प्रेम अनायास प्राप्त होता है, ठीक वैसे ही वह फूट पड़ता है जैसे डाली से पत्ते और टहनियाँ। उर्वशी यह भी मानती है कि काम-भावना दूषित है जो स्वत: स्फूर्त नहीं है, जो सप्रयास मानसिक क्षुधा का शमन करती है। वह कहती है-

''फलासक्ति दूषित कर देती ज्यों समस्त कर्मों को,
उसी भाँति वह काम-कृत्य भी दुषित और मलिन है,
स्वत:स्फूर्त जो नहीं, ध्येय जिसका मानसिक क्षुधा का
सप्रयास है शमन, जहाँ पर सुख खोजा जाता है
तन की प्रकृति नहीं, मन की माया से प्रेरित होकर
जहाँ जागकर स्वयं नहीं बहती चेतना उरों की,
मन की लिप्सा के अधीन उसको जगना पड़ता है,
या जब रसावेश की स्थिति में, किसी भाँति, जाने को
मन शरीर के यन्त्रों को, बरबस, चालित करता है। '' 11

('उर्वशी', पृ. 88, तृतीय अंक)

प्रेमिका रूप में उर्वशी का जो चित्रण किया गया है, वह चित्रण नारी के उस रूप की अभिव्यक्ति है जो एक ओर तो सर्वस्व समर्पण करके शारीरिक सुख में डूबने को लालायित है और दूसरी ओर शारीरिक सुख से ऊपर उठकर काम-भावना का उदात्तीकरण करता है। वास्तव में ये दोनों रूप यथार्थ और आदर्श का, हृदय और मस्तिष्क का, भाव और तर्क का समुचित समन्वय है। जो नारी केवल यथार्थ अथवा आदर्श को लेकर प्रेम-पथ पर अग्रसर होती है, वह अपने रूप में एकांगी है, उसका रूप सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

नारी जब अपना सर्वस्व किसी एक व्यक्ति के प्रति समर्पण करके आजीवन उसी के साथ बँध जाती है, तो उसका वह रूप पत्नी का होता है। पत्नी और प्रेमिका रूप इन दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि प्रेमिका की भावनाओं में काम की प्रबलता होती है पत्नी की काम-भावना पर संयम का अंकुश होता है। प्रेमिका अपने प्रेमी का त्याग भी कर सकती है, किन्तु सामान्यत: पत्नी ऐसा नही करती। पत्नी के लिए पति उसका सर्वाधार बन जाता है और उसकी समस्त अभिलाषाएँ इसी के इर्द-गिर्द घुमती है। सुकन्या पत्नी रूप का अच्छा प्रतिनिधत्व करती है। सच्ची पत्नी को अपने पति पर गर्व होता है चाहे उसका पति उतना योग्य भले ही न हो। यथा -

''किन्तु चित्रलेखा! मुझको अपने महर्षि भर्ता पर
ग्लानि नहीं, निस्सीम गर्व है। '' 12

(सुकन्या, पृ. 103, चतुर्थ अंक)

सुकन्या अपने पति के इर्द-गिर्द इतना अधिक सिमट गई है कि उसे अप्सराओं से समान विवृत भोगों का कुछ परिज्ञान नहीं है। उसके आनंद-धाम पति देव हैं। यथा-

''एकचरिणी में क्या जानूँ स्वाद विविध भोगों का?
मेरे तो आनन्द-धाम केवल महर्षि भर्त्ता हैं।
योग-भोग का भेद अप्सरा की अबन्ध क्रीड़ा है,
गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होत हैं,
जिससे मिलता भोग, योग भी वही हमें देता है।
क्या कुछ मिला नहीं मुझको दयिता महर्षि की होकर?
शिखर-शिखर उड़ने में, जानें, कौन प्रमोद-लहर है।
किन्तु, एक तरू से लग सारी आयु बिता देने में
जो प्रफुल्ल, धन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये-नये फूलों पर नित उड़ती फिरनेवाली को। '' 13

(सुकन्या, पृ. 105, चतुर्थ अंक)

सुकन्या मानती है कि नारी-सौन्दर्य की महत्ता इसी में है कि वह किसी पुरूष की परिणीता बन जाये। कालिदास ने भी कहा है कि सौन्दर्य की सार्थकता प्रिय को आकृष्ट करने में हैं। यहाँ दिनकर ने नारी-सौन्दर्य की अवधारणा में एक कड़ी और जोड़ दी है।

नारी के लिए यही वह अवसर है कि जब वह अपने प्रियतम के साथ निखिल जीवन का तार बाँधन में समर्थ एवं सफल होती है। सौन्दर्य से विगलित हो जाने पर फिर नारी का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता है। यथा –

''इसीलिए कहती हूँ, जब तक हरा-भरा उपवन है,
किसी एक के संग बाँध लो तार निखित जीवन का;
न तो एक दिन वह होगा जब गलित, ग्लान अंगों पर
क्षण भर को भी किसी पुरूष दृष्टि नहीं विरमेगी;
बाहर होगा विजन निकेतन, भीतर प्राण तजेंगे
अन्तर के देवात तृषित भीषण हाहाकारों में। '' 14

(सुकन्या, पृ. 106, चतुर्थ अंक)

पत्नी का यह रूप भारतीय परम्परा के सर्वथा अनुकूल है एवं गौरवपूर्ण है। मातृरूप नारी के समस्त रूपों में श्रेष्ठ है। इसकी रेष्ठता अप्सराओं को भी स्वीकार करनी पड़ती है। यथा –

''पर रम्भे! क्या कभी बात यह मन में आती है,
माँ बनते ही त्रिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है?
गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर?
युवा जननी को देख शान्ति कैसी मन में जगती है।
रूपमती भी सखी! मुझे तो वही त्रिया लगती है,
जो गोदी में लिए क्षीरमुख शिशु को सुला रही है,
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।'' 15

(मेनका, पृ. 32, प्रथम अंक)

आयु नवजात शिशु है जिस पर तीन-तीन नारियाँ अपना वात्सल्य उड़ेल रही है।-उर्वशी, सुकन्या और औशीनरी। उर्वशी उसकी जननी है। उर्वशी को मानव की माता होने को गर्व है। वह गरिमाबोध से कह उठती है-

''बेटी नहीं हुई तो क्या? अब माँ तो हूँ मानव की?
नही देखती, रत्नमयी को कैसा लाल दिया। '' 16

(उर्वशी, पृ. 114, चतुर्थ अंक)

वह जब भी आयु का चुम्बन करती है, किसी अलौलिक सुख में डूब जाती है। यथा-

''कितनी मृदुल ऊर्मि प्राणों में अकथ, अपार सुखों की!
दुग्ध-धवल यह दृष्टि मनोरम कितनी अमृत-सरस है!
और स्पर्श में यह तरंग-सी क्या है सोम-सुधा की,
अंक लगाते ही आँखो की पलकें झुक जाती है।
हाय, सुकन्ये! कल से मैं, जानें किस भाँति जियूँगी। '' 17

(उर्वशी, पृ. 116, चतुर्थ अंक)

सुकन्या जब आयु को अपने पास रखकर उसके भविष्य की स्वर्णिम कल्पना करती है कि जब आयु बड़ा हो जायेगा तो वह गायों को चराने जायेगा। महर्षि के साथ यज्ञ-वेदी पर बैठेगा। शस्त्र-शास्त्र में निष्पात हो जायेगा आदि। इसके साथ ही मातृत्व की कल्पनाएँ उभरती है -

''हवन-धूम से आँखों में जब वाष्प उमड़ आयेंगे
तब मैं दोनों नयन पोंछ दूँगी अपने आँचल से। '' 18

(चतुर्थ अंक)

औशीनरी भी मातृत्व की भावना से ओत-प्रोत है। वह आयु को हृदय से लगाकर कहती है -

''कितना भव्य स्वरूप! नयन, नासिका ललाट चिबुक में।
महाराज की आकृतियों का पूरा बिम्ब पड़ा है।
हाय पाती कितने सुख, कितनी उमंग, आशा से,
मिला मुझे होता यदि मेरा तनय कहीं बचपन में।'' 19

(औशीनरी, पृ. 143, पंचम अंक)

नारी के विशिष्ट गुणों का वर्णन भी 'उर्वशी' में पर्याप्त मिलता है। नारी ही वह शक्ति है जिससे मनुष्य को परम रूप मिलता है। यथा -

''नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर,
नए मनुज नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ, देव, दानव, मनुष्य से छिपकर
महाशून्य चुपचाप, जहाँ आकर ग्रहण करता है। '' 20

(सुकन्या, पृ. 113, चतुर्थ अंक)

जब मनुष्य को कोई रास्ता नही सूझता, वह असफल हो जाता है, संकट की स्थिति में रहता है, तो किसी रूप में नारी ही उसे आश्वस्त करती है एवं उसके भीतर शक्ति का संचार करती है। यथा -

''असफलता में उसे जननी का वक्ष याद आता है,
संकट में युवती का शैय्या कक्ष याद आता है।'' 21
(मदनिका का कथन, पृ. 47, द्वितीय अंक)

नारी नर के अटके हुए नाव को किनारे लगाकर अदृश्य हो जाती है। यथा –

''... यह भी है कर्म त्रिया का,
अटक गई हो तरी मनुज की किसी घाट-अवघट में,
तो छिगुनी की शक्ति लगा नारी फिर उसे चला दे,
और लुप्त हो जाय पुनः आतप, प्रकाश हलचल से। '' 22
(सुकन्या, पृ. 154, प्रथम अंक)

सच तो यह है कि सृष्टि में उसी (नारी) का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

''सच पूछो तो प्रजा-सृष्टि में क्या है भाग पुरूष का?
यह तेरा नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है।
सत्व-भार सहती असंग, संति जनति है,
और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च निलय में। '' 23
(सुकन्या, पृ. 113, चतुर्थ अंक)

सम्पूर्ण काव्य में नारी का चरित्र पुरूष के चरित्र की तुलना में श्रेष्ठ ठहरता है। 'उर्वशी' नामकरण ही नारी को सूचित करता है। अप्सरा से लेकर मानवी तक सभी नारी पात्र किसी-न-किसी विशेष नारी वर्ग एवं गुणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रकार संपूर्ण 'उर्वशी' नारी स्वरूप के वर्णन है और नारी की महिमा से मंडित है।

सन्दर्भ

1. रंभा का कथन, पृ. – 29, प्रथम अंक

2. प्रथम अंक, रम्भा, पृ. 31

3. प्रथम अंक, रंभा, पृ. 29

4. प्रथम अंक, रंभा, पृ. 33-34

5. उर्वशी, पृ. 52, तृतीय अंक

6. उर्वशी, पृ. 52

7. उर्वशी, पृ. 55, तृतीय अंक
8. उर्वशी, पृ. 64, तृतीय अंक
9. उर्वशी का कथन, पृ. 65-66, तृतीय अंक
10. उर्वशी का कथन, पृ. 65-66, तृतीय अंक
11. उर्वशी, पृ. 81
12. 'उर्वशी', पृ. 88, तृतीय अंक
13. सुकन्या, पृ. 103, चतुर्थ अंक
14. सुकन्या, पृ. 105, चतुर्थ अंक
15. सुकन्या, पृ. 106, चतुर्थ अंक
16. मेनका, पृ. 32, प्रथम अंक
17. उर्वशी, पृ. 114, चतुर्थ अंक
18. उर्वशी, पृ. 116, चतुर्थ अंक
19. औशीनरी, पृ. 143, पंचम अंक
20. सुकन्या, पृ. 113, चतुर्थ अंक
21. मदनिका का कथन, पृ. 47, द्वितीय अंक
22. सुकन्या, पृ. 154, प्रथम अंक
23. सुकन्या, पृ. 113, चतुर्थ अंक

डॉ॰ कुमारी अनीता
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
कमला नेहरू कालेज
सम्पर्क सूत्र: 9871559047
ई-मेल: kumarianita9213@gmail.com

भारतेन्दु कृत 'भारत दुर्दशा' का संगीत पक्ष

भारत दुर्दशा नाटक नाटक का मूल कथ्य भारत की दुर्दशा को व्यक्त करता है किंतु केवल व्यक्त कर देने भर से कोई नाट्य कृति महती नहीं हो जाती, उसमें प्रफुल्लित या तिलमिला देने की शक्ति भी होनी चाहिए। 'भारत दुर्दशा' इस शक्ति से पूर्ण है।

वस्तुतः भारत दुर्दशा उन्नसवीं शताब्दी के मध्य में प्रस्फुटित राष्ट्रीय चेतना का दस्तावेज है। 'भारत दुर्दशा' को ही हिन्दी का पहला 'राजनीतिक नाटक' माना गया है। स्वयं भारतेंदु ने भी भारत दुर्दशा को देशवत्सलता का नाटक माना है और आज की शब्दावली में जो राष्ट्रप्रेम है वही भारतेंदु की देशवत्सलता है।नाटक में शुरू से लेकर आखिर तक इसी राष्ट्रीय चेतना की आहट सुनाई पड़ती है। इस आहट को मुखर करने में और नाटक का पूरा ताना-बाना बुनने में संगीत महती भूमिका अदा करता है।

भारत-दुर्दशा' गीत-संगीत प्रधान नाटक है जिसमें तकरीबन पन्द्रह छोटे-बड़े गीत हैं। छः छोटे-छोटे अंकों में विभक्त इस नाटक का केवल एक अंक (पाँचवा अंक) गीत-संगीत रहित है, बाकी सभी दृश्यों में इसकी भरमार है। यानी औसतन पाँच अंकों में प्रति अंक में पाँच-पाँच गीत। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके गीत-संगीत पक्ष पर बात करना कितना महत्त्वपूर्ण है और नाटक की प्रभाविष्णुता को बढ़ाने-घटाने में इसका कितना महत्त्व है।

सर्वप्रथम तो इस नाटक का नाम ही भारतेन्दु ने भारत दुर्दशा 'नाट्यरासक वा लास्यरूपक' दिया है। 'नाट्यरासक वा लास्य रूपक' - ये वस्तुतः नृत्य व गीत-संगीत प्रधानता के ही वाचक हैं। 'नाट्य रासक' का परिचय देते हुए स्वयं भारतेंदु ने लिखा है- 'इसमें एक अंक, नायक उदात्त, नायिका वासक सज्जा, पीठ मर्द उपनायक और अनेक प्रकार के गान और नृत्य होते हैं।'

साहित्य दर्पण' के अनुसार धीरोदात्त नायक वह है जिसे आत्मश्लाघा की भावनाओं से रहित, क्षमाशील, अतिगम्भीर, दुख-सुख प्रकृतिस्थ, स्वभावतः स्थिर और स्वाभिमानी किन्तु विनीत कहा गया है। वहीं शृंगार करके नायक की प्रतीक्षा करने वाली नायिका वासकसज्जा कही जाती है और नायक का सखा जो नायक से गुण में कुछ कम होता है, पीठ मर्द होता है। किन्तु हम यह देखते हैं कि भारत-दुर्दशा का न तो नायक उदात्त है न पीठ मर्द उपनायक। और नायिका तो हैं ही नहीं। यों भारत भाग्य को पीठ मर्द माना जा सकता है फिर भी शास्त्रीय पैमाने पर इसके

लक्षण तो नहीं मिलते, हाँ नृत्य-संगीत की प्रधानता अवश्य मिलती है। शायद इसलिए भारतेन्दु ने इसके साथ 'लास्य रूपक' भी जोड़ दिया है। 'लास्य' के सम्बंध में भारतेंदु लिखते हैं - 'लास्य भी एक प्रकार के नाचने ही को कहते हैं।' लास्य का सम्बंध नृत्य से है और भारत दुर्दशा में नृत्य का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। नाटक के पात्र प्राय: नाचते हुए प्रविष्ट होते हैं - यथा भारत दुर्दैव, सत्यानाश फौजदार, अंधकार। सम्भवत: इसी कारण भारतेन्दु ने इसे लास्य रूपक कहा है।

नाटक का आरंभ मंगलाचरण से होता है। मंगलाचरण में एक दोहा रख दिया गया है -

जय सतजुग-थापन करन, नासनम्लेच्छ अचार।
कठिन धार तरवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार॥

यह मंगलाचरण देश की दुर्दशा यानी 'भारत दुर्दशा' की पृष्ठभूमि को व्यक्त करता है। इसमें कल्कि अवतार श्री कृष्ण की वंदना है जो परमवीर हैं और म्लेच्छों का नाश करने वाले एवं सतयुग की स्थापना करने वाले हैं। समूचे नाटक में जिस प्रकार भारत की दुर्दशा का चित्रण है - उसको करने से पूर्व एक बार उन तमाम विघ्नों के संभावित हर्ता को प्रणाम् कर लेना नाटककार ने आवश्यक समझा है। यह दोहा यों तो महज एक रुढ़ि के तहत देखा जाता है किंतु मंचन के दौरान इसे निबद्ध या अनिबद्ध दोनों रूपों में गाया जा सकता है। इसके तुरन्त बाद योगी का प्रवेश भी लावनी गाते हुए होता है

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई.....

इसे स्वयं नाटककार ने 'लावनी' कहकर संबोधित किया है। लावनी उत्तर भारत की एक लोक प्रचलित गायन शैली है। इसे चंग (एक प्रकार का ताल वाद्य) बजा-बजाकर अकेले या कई आदमी मिलकर गाते हैं। इसमें श्रृंगार तथा भक्ति रस के गीत होते हैं और कहरवा ताल का प्रयोग होता है। इस गीत को अकेला योगी गाता है यद्यपि विद्वानों के मतानुसार यदि यह समूह में गाया जाए तो इसकी प्रभावात्मकता अधिक होगी। जब डा. गोपीनाथ तिवारी भारत दुर्दशा को पश्चिम नाट्यशिल्प से जोड़कर देखते हैं और उसके अनेक कारणों में से एक कारण कोरस गीत भी गिनाते हैं (भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन) तब सिद्धनाथ कुमार उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं- 'नाटक में कोरस की बात

कही गयी है, तो भारत दुर्दशा में कोई कोरस नहीं है – एक गीत योगी का है, एक वैतालिक का है।' किंतु साथ ही वे कोष्ठ में जोड़ना नहीं भूलते – 'यों प्रदर्शन में ये गीत समवेत स्वरों में ही अधिक प्रभावशाली होंगे।' लावनी में शृंगार या भक्ति रस की प्रधानता मानी गयी है। यहाँ देश भक्ति के कारण इस गीत को 'भक्ति' की कोटि में रखा जा सकता है।

वास्तव में यह गीत इस पूरे नाटक का सार जान पड़ता है। अंतिम अंतरा विशेष महत्त्व का है। पूरे गीत में अतीत की चर्चा करते हुए भारतेंदु अन्त में वर्त्तमान से उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं जब टैक्स और धन के विदेस चले जाने की बात करते हैं। लगाते हैं मानो इन्हीं पंक्तियों को कहने के लिए भारतेन्दु ने उपरोक्त पंक्तियों का सृजन किया।

यह गीत नाटक की शुरुआत में ही पाठक/प्रेक्षक को सभी संदर्भों से परिचित कराने में सक्षम है। आगे आने वाली घटनाएं इसकी ही व्याख्या या कड़ी लगती हैं।

नाटक का दूसरा गीत 'कोऊ नहि पकरत मेरो हाथ...' तद्युगीन भारत की असहाय स्थिति की करुणा को प्रकट करता है और भारत की दुर्दशा को व्यक्त करता है। इस गीत में बीस करोड़ पुत्रों के होते हुए अनाथ और निसहाय भारत अपनी दुखगाथा गाता है। निहायत करुण यह गीत सूरदास के 'अब हौ नाच्यौ बहुत गोपाल' सरीखे करुण गीतों की याद दिलाता है। ब्रजभाषा और 'पद' दोनों की सरसता में भीगे रहने से यह गीत, संगीत के लिए उपयुक्त है।

नाटक का अगला गीत नौटंकी शैली का गीत है–

उपजा ईश्वर कोप से, और आया भारत बीच। ..
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।

नाटक में 'भारत दुर्दैव' विलन है । वह भारत दुर्दशा का जिम्मेदार पात्र है और इस प्रतीकात्मक पात्र के मुख से नौटंकी शैली में उसे नचाते हुए उसके कुकृत्यों का वर्णन कर भारतेंदु उसकी कुटिलता को मंच पर प्रदर्शित करने में सफल हुए हैं। उक्त गीत के माध्यम से भारत दुर्दैव का भीषण रूप प्रेक्षकों तक संप्रेषित होता है। लोक शैली का गीत होने से यह प्रेक्षक को अपने साथ जोड़ने की क्षमता रखता है। नौटंकी शैली के अनुरूप ही इस गीत में पात्र को नाचते हुए गाना है जिसमें हर बार अंतिम शब्द प्रायः जोर डालकर खत्म किया जाना है।

यह गीत तार सप्तक के स्वरों में गाने पर अपना अधिक प्रभाव छोड़ेगा। ऊँचे स्वरों की प्रधानता के कारण उत्तरांग प्रधान रागों का चुनाव उपयुक्त होगा।

नाटक का चौथा गीत सत्यानाश फौजदार नाचते हुए गाता है –

''हमारा नाम है सत्यानास।
आए हैं राजा के हम पास।
धर के हम लाखों ही भेस।
किया चौपट यह सारा देस।.....''

पूर्व गीत में भारत दुर्दैव अपनी कारगुजारियों का बखान कर अपने भीषण रूप का परिचय देता है एवं इस गीत में भारत दुर्दैव की लम्बी फौज का फौजदार सत्यानाश अपनी कारस्तानियों का जिक्र करता है। यहाँ भी पात्र नाचता हुआ आता है इसलिए लोकनाट्यों की नौटंकी शैली का प्रभाव स्पष्ट है अत: पूर्वोक्त गीत की विशेषताएँ इस पर भी लागू होती हैं। चाहे भारत दुर्दैव हो या सत्यानाश फौजदार और चाहे स्वयं भारत सबकी स्थिति को भारतेंदु ने गीतों और ग़ज़लों द्वारा प्रकट किया है। डा. बच्चन सिंह ठीक ही लिखते हैं – 'इस पर नौटंकी का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। गीतों और ग़ज़लों द्वारा वे दर्शकों को नाट्य-व्यवस्था में सम्मिलित कर लेते थे। इनके कारण प्रतीक पात्रों की रुक्षता धुल जाती थी।'

उक्त गीत को छंद की दृष्टि से देखें तो चौपाई छंद का ढर्रा जरूर है किंतु मात्राओं का निर्वाह यहाँ भी नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए पहली व दूसरी पंक्तियाँ सोलह मात्राओं की हैं किंतु तीसरी पंक्ति पन्द्रह मात्रा की है। पुन: चौथी सोलह मात्रा की। किंतु मात्रिक छंदों का लचीलापन गाने के दौरान सहुलियत प्रदान करता है। इसलिए गाने में कोई परेशानी नहीं होती। ठीक ही कहा गया है 'पद और छन्द रस-भाव के अनुरूप हों और राग-ताल की योजना उचित न हो तो रसानुभूति नहीं हो सकती।' इसलिए उचित राग-ताल का चयन आवश्यक है। चौपाई छंद है तो पुन: कहरवा ताल ही व्यवहारिक है। वस्तुत: कहरवा के इतने रूप प्रचलित रहे हैं कि इसमें कभी एकरसता नहीं आती। यही कारण है कि यह ताल सभी सुगम संगीत के रूपों में भरपूर प्रयुक्त होता है। कहरवा ताल भाव संगीत, लोक संगीत तथा फिल्म संगीत के साथ संगति करने की बहुत ही लोकप्रिय ताल है। इसका वादन तबला, ढोलक, नाल आदि पर किया जाता है। यह एक चंचल प्रकृति की ताल है। यह ताल इस प्रकार है –

मात्रा 8, विभाग – 2,

धा गे ना ती | न क धी न

x |

यह गीत और इस जैसे अन्य गीत जो भारत विरोधियों के हैं अपना मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी रखते हैं। ध्यातव्य है कि 'भारत दुर्दशा' के सभी पात्र नाचते हुए नहीं गाते – ये भारत-विरोधी पात्र ही हैं। इससे कहीं न कहीं भारतेंदु को तद्युगीन जनता की चेतना को कुरेदने में मदद मिली होगी। प्रो. रमेश गौतम अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं – ''लास्य उल्लासपूर्ण नृत्य है, इस उल्लासमयता को भारतेंदु ने भारत व उसके सहयोगी चरित्रों में लक्षित नहीं किया, अपितु भारत विरोधी शक्तियाँ नृत्य करते हुए आती हैं, वे जश्न मना रही हैं, उनके सामने भारत मूर्च्छित पड़ा गिड़गिड़ा रहा है।यहाँ यह दृश्यबंध पूरी तरह से दर्शक की प्रतिक्रिया व प्रतिकार की भावना का विकास करने में सक्षम है क्योंकि व्यक्ति चाहे कितना ही संवेदनहीन क्यों न हो लेकिन किसी अपने की हार पर ठहाका मारने वाले के प्रति उसके हृदय में आक्रोश किसी न किसी स्तर पर पैदा जरूर होगा।'' कहा जा सकता है कि सत्यानाश फौजदार का यह गीत उसी आक्रोश को हवा देने का काम करता है जिसे भारतेंदु सुलगाना चाहते थे।

नाटक का अगला गीत धर्म और जाति की कारस्तानियों से संबंधित है –

''रचि बहुत विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।।.....''

भारतीय समाज को धर्म ने परम्परा से बहुत गहरे स्तरों तक संचालित किया है। प्रेम और भाईचारे की भावना को उद्बुद्ध करने का आदर्श लिए सभी धर्म कहीं न कहीं फूट डालने के दोषी पाए गए हैं – इसीलिए बौद्धिकता कहीं न कहीं धर्म का ही विरोध करने लग जाती है। धर्म की आड़ में किस तरह देश की जनता को बेवकूफ बनाया जा रहा है इसकी व्यंगयोक्ति उक्त गीत में है। कदाचित् लंबे-लंबे संवादों और व्याख्यानों के जरिए भी व्यंग्य की ऐसी मारक धार मंच पर उपस्थित नहीं की जा सकती थी जैसी उक्त गीत के माध्यम से संभव हो सका है। धर्म को भारत दुर्दैव (भारत का बुरा चाहने वाले) की सेना बताकर उसके कुकृत्यों का वर्णन सत्यानाश फौजदार करता है। धर्म के संबंध में भारतेन्दु के विचार बड़े प्रगतिशील थे। उनका वैष्णव धर्म उनके लिए धर्म का आधार था। श्रद्धा, करूणा, सत्य, प्रेम और अहिंसा उनके युग में धर्म की यह व्यवस्था सचमुच अपने आप

में प्रगतिशील थी और इस प्रगतिशील धर्म की स्थापना के लिए उन्हें आधारभूमि मिली महर्षि दयानंद और केशवचन्द्र से। धर्म के नाम पर शैव, शाक्त, सनातनी और वैष्णवों आदि मतों का प्रचलन, जाति प्रथा, खान-पान से लकर छुआछूत, जन्म पत्रि आदि का अंध विश्वास, बाल विवाह, विधवा-विवाह निषेध , विलायतगमन पर रोक, अनेक देवी-देवतावाद आदि का इस गीत में वर्णन है। इस प्रकार इस गीत के माध्यम से मंच पर सामाजिक कुरीतियों को प्रस्तुत करने में भारतेन्दु सफल रहे हैं।

नाटक का छठा गीत रोग पात्र द्वारा गाया जाता है -

''जगत सब मानत मेरी आन।
मेरी ही टट्टी रचि खेलत नित सिकार भगवान।.....''

चौथे अंक के इस गीत में भारत दुर्दैव का एक अन्यतम सिपाही रोग अपना परिचय देता है जिसमें वह बताता है कि पूरे विश्व में आज उसी का राज है। उसी की आड़ लेकर स्वयं ईश्वर शिकार खेलते हैं (लोगों के प्राण लेते हैं) - मृत्यु का कारण बनकर वही मृत्यु को कलंकित होने से बचाता है सारा दोष रोग को दिया जाता है। इतना ही नहीं वैद्यों और दवा निर्माताओं की जीविका भी उसी की कृपा से चलती है। कुल मिलाकर ये कि रोग अपना कार्य बखूबी कर रहा है।

अव्यवस्था नागरिकों के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ का कारण बनती है। रोग नामक प्रतीक पात्र के उक्त गीत द्वारा मंच पर तद्युगीन अव्यवस्था का चित्र खींचने में मदद मिलती है। राग व ताल निर्दिष्ट नहीं किंतु पुनः कहरवा ताल सहज बैठेगा और गीत की धुन किसी भी राग पर आधारित हो सकती है। लोक गीत-संगीत में प्रचलित राग देश, भैरवी व इनके आस-पास के कोई राग प्रयुक्त हो सकते हैं।

अगला गीत नाटक के एक अन्य प्रतीक पात्र आलस्य द्वारा गया जाता है। यह ग़ज़ल शैली में है -

''दुनियाँ में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा॥''

'भारत दुर्दशा' में भारत की दुर्दशा के जिम्मेवार सभी पात्रों के मुख से गीतों के जरिए उनकी कारस्तानियों का बखान किया गया । ये सभी पात्र भारत की बुराइयों के प्रतीक हैं। उक्त गीत ऐसी ही एक बुराई या कमजोरी - आलस्य - के द्वारा

गाया गया है। आत्मकेंद्रत और अकर्मण्य जनता को जगाने के लिए व्यंग्य की तीखी टिप्पणी इस गीत के माध्यम से व्यक्त होती है। अमीर खुसरो से शुरू हुई हिन्दुस्तानी ग़ज़ल परम्परा भारतेंदु के रूप में नया पड़ाव पाती है। 'आलस्य' हाथ-पैर हिलाना मौत से भी बद्तर मानता है। यहाँ तक कि वो प्यार भी नहीं करना चाहता क्योंकि ऐसे में उसे उठकर प्रयेसी के घर जाना होगा (अब भला कौन उठे)। वह जहालत में मर जाना पसन्द करेगा पर काम नहीं करेगा। यहाँ तक कि चाहे समूचा देश खाक में मिल जाए उसे तनिक भी रंज नहीं होगा -

''मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरे-फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥''

ऐसा लगता है कि भारतेंदु की जागरण चेतना कबीर की भांति छटपटा कर बुरा-भला कहने तक चली आई है जिसके तहत वे 'हम काहिलों को क्या' कहते हैं। आलसी भारतीयों के लिए मीरे-फर्श (जिसे जमीन (फर्श) पर पड़े रहने में ही आनन्द है) शब्द बहुत रोचक और सारगर्भित है।

भारतेंदु आलस के लिए ग़ज़ल छंद का चुनाव करते हैं। ग़ज़ल हिंदी-उर्दू की साझी परम्परा में पनपी एक विधा है। वास्तव में ग़ज़ल भावों की अभिव्यक्ति का एक बहुत सशक्त माध्यम है। थोड़े से शब्दों में कल्पनाओं, संवेदनाओं, सुख-दुख तथा कोमल भावनाओं को शब्दों में बांधने की इसकी क्षमता अद्भुत है। मगर भारतेन्दु को यहाँ सुख-दुख रूपी कोमल भावों को नहीं पड़ोसना था, एक खास किस्म की तिलमिलाहट पैदा करनी थी। इसके लिए उन्होंने भाषा और उसके तेवर का पूरा ख्याल रखा। ग़ज़ल अपने चुटीलेपन और मारक प्रभाव के कारण ही अपना विशेष स्थान रखती है। यह चुटीलापन और मारक प्रभावशीलता अरबी-फारसी और संस्कृत के भारी भरकम शब्दों के कारण आहत होती है इसीलिए भारतेंदु ने इस ग़ज़ल में आम हिंदी-उर्दू मिश्रित भाषा का ही प्रयोग किया है।

ग़ज़ल की बुनावट बड़ी शास्त्रीय और सलीकेदार होती है। इस विषय में कुछ साधारण नियम स्वयं गजल की जुबानी - ''मैं ग़ज़ल हूँ, मेरे लिए आवश्यक है स्वस्थ कल्पना, परिपक्व सोच, भाव तथा भावाभिव्यक्ति के लिए जरूरी है 'बहर' (छन्दगत निश्चित मात्राएँ), फिर 'काफिर' अर्थात् तुक के शब्द, फिर तुक के साथ चलते रहने वाले निर्धारित शब्द अर्थात् 'रदीफ'। मेरे लिए चाहिए 'मतला' - जिसका अर्थ है ग़ज़लोदय। मतले की दोनों पंक्तियों में काफिर व रदीफ होते हैं। फिर शेर जिसकी दूसरी पंक्तियों मे काफिर व रदीफ होते हैं। अंत में होता है 'मक्ता' अर्थात् 'गजल इति' इसमें शायर का नाम या तखल्लुस होता है।''

इस दृष्टि से देखें तो बहर, काफिए व रदीफ की दृष्टि से ग़ज़ल खरा उतरता है। 'नहीं अच्छा' के रूप में भारतेंदु ने पूरी ग़ज़ल में काफिए व रदीफ का निर्वाह किया है। 'मतले' की दोनों पंक्तियों में ही काफिए व रदीफ का निर्वाह किया गया है। अंतिम शेर जिसे 'मक्ता' कहते हैं में शायर के नाम या तखल्लुस (उपनाम) को देने की परम्परा रही है। भारतेंदु ने इस ग़ज़ल में इस परंपरा को नहीं माना। साथ ही ग़ज़लों में प्रायः चार से पांच शेर होते हैं किंतु यह ग़ज़ल नौ शेरों का है। अर्थात् अपेक्षाकृत ग़ज़ल लम्बी है। किंतु इससे इसकी प्रभावोत्पाकदकता में कमी नहीं आती क्योंकि ग़ज़ल एक किस्म की नाटकीय भंगिमा से पूर्ण है।

ग़ज़ल गायन आमतौर पर उपशास्त्रीय गायन व भाव प्रधान गायकी होती है जिसमें मधुर रागों को व्यवहार में लाया जाता है किंतु इस ग़ज़ल की मांग दूसरे तरह की है। यह ग़ज़ल कव्वालीनुमा धुन व गायकी की मांग रखती है। कव्वाली में ऊँचे स्वरों की प्रधानता व समूह गायन (कोरस) का साथ होता है। एकल गायन में प्रभाव में कुछ कमी सी रहनी की संभावना है। राग निर्दिष्ट नहीं, न उसकी आवश्यकता है। रागाधारित भी हो सकती है और नहीं भी। 'बहर' को देखते हुए 'दादरा' ताल की सँभावना बनती है जिसपर यह ग़ज़ल गाई जाएगी और जो कदाचित द्रुत लय में होगी। इसी प्रकार यह गीत हास्य-व्यंग्य शैली में ग़ज़ल होते हुए भी 'पैरोडी' का काम करती है। डा. सत्येन्द्र कुमार तनेजा लिखते हैं - 'हास्य-व्यंग्य का पद्यमय रूप पैरोडी है। भारतेन्दु को 'वैदिक हिंसा...' और 'भारत दुर्दशा' मे अधिक सफलता इसलिए मिली क्योंकि यहाँ ऐसी संभावनाएँ अधिक थीं।' इस प्रकार ग़ज़ल को हास्यपूर्ण व्यंग्य के लिए इस्तेमाल करने की नवीन परिपाटी भारतेन्दु में दिखलाई पड़ती है।

नाटक का आठवाँ गीत नाटक की एकमात्र स्त्री पात्र और भारत दुर्दैव के सबसे कारगर सिपाहियों में से एक, मदिरा द्वारा गाया गया है -

''दूध सूरा दधिहू सुरा, सुरा अन्न धन धाम।
वेद सुरा ईश्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम॥ .....''

इसमें वह अपनी तमाम खूबियों और प्रभावों का जिक्र करती है जिसके चलते उसने भारत के लिए मुसीबत खड़ी कर रखी है। वह कहती है कि वही सब कुछ है - दूध, दही, अन्न-धन, वेद, स्वर्ग, जाति, विद्या। सम्पूर्ण जगत सुरामय है। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, सैयद सभी हिन्दू-मुस्लिम उसका पान करते हैं। इसके लिए होटल जाने में उन्हें कोई लाज नहीं होती। सभी - संगीतकार, साहित्यकार, वकील, धर्माचार्य उसका सेवन करते हैं। उसके आदती लोगों को तो ईश्वर के नाम में भी

वही नजर आती हैं। यथा 'ब्रह्मा' भी उन्हें 'ब्रांडी' नजर आती है। धन, बुद्धि, बल, कुल, लज्जा, पतिगेह, माँ-बाप, पुत्र-धर्म आदि सब वही है। एक मात्र वही एक चीज है जो बिना तपस्या किए ही लोगों को एक लय (तन्मय) कर देने की शक्ति रखती है। इसलिए उसका कोई विरोधी नहीं। सरकार भी उसे मानती है। कुल मिलाकर उसकी कीर्ति सूर्य-चन्द्र समान व्यापक और दीर्घ (अमर) है।

इस प्रकार इस गीत में भारतेंदु ने शराब की महिमा शराब के मुख से गवाई है। यह महिमा गायन भारतेंदु के लिए बहुत मुश्किल नहीं था - सेज-सुराही और प्याला से तद्युगीन रईसों की तरह उनका भी नाता था। किंतु मद्यपान तद्युगीन जनता के लिए कितनी हानिकारक थी और किस तरह इसने अपने पैर पसारने शुरु कर दिये थे यह वो जानते थे। मानवीय जीवन में मद्यपान का यही अंधकारमयी पक्ष युग के महानायक गाँधी को मद्यपान विरोधी बनाता है। भारतेंदु यह जानते थे कि आने वाले समय में शराब (नशा) किस प्रकार युवा पीढ़ी को बर्बाद करने वाला है। भारतेंदु यह भी जानते थे कि सरकार भी मद्यपान को दूर नहीं करना चाहती क्योंकि यदि वो ऐसा चाहती तो शराब पर अधिक 'कर' बढ़ा देती किंतु वह तो उल्टा उसे बढ़ावा दे रही है। सरकार की लापरवाही को इंगित करते हुए उन्होंने मदिरा के मुख से कहलवाया भी है-

'सरकारहि मंजूर जो मेरा होत उपाय।
तो सब सों बढ़ि मद्य पै देती कर बैठाय॥'

सरकार की इसी लापरवाही से मद्यपान को और बढ़ावा मिला। क्या अमीर, क्या गरीब इसने ऐसी दुर्गति फैलाई कि आगे चलकर गाँधी जी को लिखना पड़ा - 'मजदूरों के साथ अपनी आत्मीयता के फलस्वरूप मैं जानता हूं कि शराब की लत में फँसे हुए मजदूरों के घरों को शराब ने कैसा नाश किया है। मैं जानता हूं कि शराब आसानी से न मिल सकती तो वे शराब को छूते भी नहीं।'

भविष्य में इस 'आसानी से मिलने' वाले शराब के पीछे का कारण भारतेंदु पहले ही जान गए थे इसलिए उसका जिक्र भी इन्होंने इस गीत में कर दिया है। गीत का संगीत पक्ष प्रबल है। इसमें 'दोहा' छंद का इस्तेमाल हुआ है। दोहा छंद संगीत के लिए बहुत उपयोगी और उपयुक्त छंद है। गीत चूंकि लम्बाई में अधिक है अत: दो चीजों का ध्यान रखना अनिवार्य है - एक तो यह अनिबद्ध नहीं हो यानी बिना ताल के न हो - अन्यथा ऊब पैदा होगी। दूसरा कि यह गायकी प्रधान न हो - यानी राग की सुंदरता बघारने की कोशिश न की जाए। यों ये बात समूचे नाट्य संगीत पर ही लागू होती है किंतु छोटे गीतों में रागदारी व भाव प्रदर्शन के लिए

'स्पेस' पाया जा सकता है - कहीं-कहीं तो अपेक्षा भी रहती है किंतु यहाँ पर यह स्पेश मौजूद नहीं। इसलिए यह साधारण धुन के आरोह-अवरोह में गाने लायक गीत है जो बहुप्रयुक्त कहरवा ताल के अनुकूल है। गीत में कोई 'टेक' न होना भी इसी बात का संकेत है कि इसे स्थायी व अंतरा के विशुद्ध खांचों में नहीं बांटा जाना चाहिए। यों विविधता के लिए अलग-अलग दोहों को अलग-अलग अंदाज में गाया जा सकता है। भाव के अनुकूल यदि धुन होंगे तो वे प्रभाव को और बढ़ाएंगे। अलग-अलग धुनों को अलग-अलग सन्दर्भों के अनुसार उपयोग किया जा सकता है। यथा- पहला और दूसरा दोहा एक धुन में, फिर तीसरे व चौथे दोहे में एक अन्य धुन, पांचवें में पुनः धुन परिवर्तन, यह परिवर्तन आगे 6-7, 8-9, 10, 11, 12, 13-14 के अनुपात में किए जा सकते हैं। मान लीजिए आरोह-अवरोह सम्मत दो धुनें बना ली गईं तो बारी-बारी से उपरोक्त अनुपात में उन्हें गाया जा सकता है। इससे लम्बे गाने की एकरसता सम्बन्धी डर को दूर हटाकर नाटककार के अभिहित अर्थ की उत्पत्ति की जा सकती है।

भारतेंदु का जहाँ-जहाँ मन रमा है वहाँ-वहाँ उनका काम एक गीत से नहीं चला है। इससे पूर्व 'धर्म' के संबंध में हमने यह प्रवृत्ति देखी। अब 'मदिरा' के संदर्भ में भी यही दृष्टिगत होती है जब मदिरा पुनः अपना वक्तव्य गीत की शक्ल में देती है। इस बार वह बकायदा गायन करती है वह भी संगीत-मितव्ययी छंद पद में- गाती है

(राग - काफी, धनाश्री का मेल, ताल धमार) -
''मदवा पीले पागल जीवन बीत्यौ जात।
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं मान हमारी बात।।.....''

इस गीत में एक तरह से मदिरा के समाजिक को रिझाने का प्रयास है जा उसे कहती है वही (शराब) जगत का सार है। इसलिए वह हर सुबह शाम उसे छक के पिया करे इसमें कोई संकोच न करे। मदिरा में इतनी शक्ति है कि उसके पीने के बाद हाथी मच्छर व सूरज जुगनू समान नज़र आने लगता है - ऐसी सिद्धी को न प्राप्त कर इधर-उधर ठोकर खाने से कोई फायदा नहीं।

इसके गायन के विषय में भारतेंदु ने इसमें राग-मिश्रण व ताल का जिक्र कर दिया है। राग काफी, धनाश्री का मेल, ताल धमार। यानी यह गीत राग काफी (जिसमें धनाश्री राग का मिश्रण हो) में गाई जाये जो धमार ताल में निबद्ध हो। राग काफी के विषय में संगीत विशारद में लिखा गया है - 'यह काफी थाट का आश्रय राग है। इसमें ग-नि कोमल, शेष स्वर शुद्ध लगते हैं। वादी पन्चम व संवादी षड्ज है। गायन समय रात्रि का दूसरा प्रहर है। इसका आरोह-अवरोह इस प्रकार है -

सा रे ग़ म प ध नि़ सां।

सां नि़ ध प म ग़ रे सा।

स्वरूप - सा रे ग़, सा रे प, म प ध, नि़ ध प, सा नि ध प, म प ध प, ग़ रे, रे ग़ रे म ग़ रे सा, सा सा रे रे ग ग़ म म प।

राग काफी हिन्दुस्तानी संगीत के उन प्रचलित रागों में है जिसका प्रयोग उपशास्त्रीय सुगम संगीत (गजल, भजन गीतादि में) प्रचुरता से किया जाता है। इसमें सुंदरता बढ़ाने के लिए कोमल ग व कोमल नि के साथ शुद्ध ग, नि लेने का भी प्रचलन है। इसकी प्रकृति चंचल मानी जाती है और शृंगारिक गीत इस पर पर्याप्त फबते हैं। भारतेंदु ने इस गीत को मदिरा द्वारा गवाया है जिसका अभिनय स्त्री कर रही है, ऐसे में भारतेन्दु ने काफी राग का चुनाव ठीक ही किया है - क्योंकि यह राग उस भाव के अनुकूल है। किंतु साथ ही नाटककार ने धनाश्री का मेल भी इंगित कर दिया है। किन्हीं दो रागों के मिश्रण या एक राग में दूसरे राग की झलक दिखलाने में कलाकार विशेष की शैली ही विशेष महत्त्व रखती है। दो रागों का मिश्रण एक कलाकार दूसरे ढंग से करेगा, दूसरा कलाकार किसी दूसरे ढंग से। इसलिए भारतेंदु ने जब काफी में धनाश्री के मेल की बात की है तो इसकी शैली भी उनकी अपनी होगी - इस संबंध में हम केवल उसके कुछ सूत्र ढुंढ कर संभावनाएँ बयान कर सकते हैं।

धनाश्री राग वर्तमान समय में कुछ अप्रचलित सा राग है - सांगीतिक कार्यक्रमों में इस राग का स्वतंत्र गायन प्रायः नहीं होता, (इसका मिश्रित रूप 'पूरिया धनाश्री' बहुत प्रचलित है)। शास्त्रीय रूप में देखें तो धनाश्री के कई रूप प्रचलित हैं। मुख्यतः इसे दो अंगों में देखा जा सकता है - एक काफी (व भीमपलासी) अंग व दूसरा भैरवी अंग। इनमें काफी या भीमपलासी अंग की अगर बात करें तो उसमें यह काफी थाट से ही उत्पन्न है किंतु औडव सम्पूर्ण जाति का राग है। निषाद व गंधार राग 'काफी' के समान ही कोमल है व वादी-संवादी भी 'काफी' के समान ही 'पंचम' व 'षडज' है किंतु 'काफी' जहाँ सम्पूर्ण राग है वहीं यह औडव-सम्पूर्ण राग है (अर्थात आरोह में पांच व अवरोह में सात स्वर लगते हैं) -

आरोह - सा ग़ म प नि़ सां।

अवरोह - सां नि़ ध प म ग़ रे सा।

स्वरूप - नि़ सा, ग़ मप, धप नि़ धप म ग़, मप ग, ग़ म रे सा, प नि़ सा, रे सा ग़ रे सा

वहीं भैरवी अंग के धनाश्री में ऋषभ, गन्धार, धैवत व निषाद – चारों स्वर कोमल लिए जाते हैं, ऐसे में इसका स्वरूप इस प्रकार हो जाता है

नि़ सा ग़, प, प ध़ प, म प ग़, ग़ म प,

ग़, रे़ सा, रे़ नि़ सा, प प ध़ प ग़,

म प, नि़, नि़ सां सां ग़ं रें सां, प नि़ सां,

प ध म प, ग़ म प, ग़, रे सा।

इन दोनों में कौन सा अंग भारतेन्दु के मन में था ये जानना मुश्किल है – किंतु काफी अंग के धनाश्री की काफी राग से समानता कहीं न कहीं मेल की औपचारिकता पर या औचित्य पर कोई ठोस तर्क नहीं उपलब्ध होने देती। क्योंकि दोनों रागों की प्रकृति कमोबेश एक ही हो जाती है किंतु भैरवी अंग के धनाश्री में कोमल स्वरों का बाहुल्य इस अलग प्रकृति दे देता है। इसलिए माना जा सकता है कि भारतेंदु कहीं न कहीं भैरवी अंग के धनाश्री का काफी से मेल करने की बात कर रहे होंगे।

इसके कारणों की तलाश करने पर एक बहुत ही रोचक बिन्दु उभरकर आती है कि काफी जहाँ शृंगारिक, चंचल (हंसी-खुशी व उल्लास) का राग है वहीं धनाश्री (भैरवी अंग वाले) में कोमल स्वरों का बाहुल्य उसमें एक खास किस्म की उदासी व उदात्तता है। खुशी में दर्द का हल्का सा मिश्रण बड़ा 'अपीलिंग' हो सकता है – मदिरा भी तो कुछ ऐसा ही प्रभाव छोड़ना चाहती थी। मुख्यतः यह राग काफी का गीत है जो शृंगारिक व चंचल मदिरा के बिल्कुल अनुकूल है।

नाटककार ने 'धमार ताल' का निर्देश दिया है। धमार ताल की बुनियादी बातें निम्न हैं- 'धमार में 14 मात्राएं होती है। इसके चार विभाग होते हैं। पहले विभाग की पाँच मात्राएं, दूसरे विभाग में दो मात्राएं, तीसरे विभाग में तीन तथा चौथे विभाग की चार मात्राएं हैं। पहली मात्रा पर सम 6,11वीं मात्राओं पर ताली तथा 8वीं मात्रा पर खाली है।

मात्रा	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
बोल	क	धि	ट	धि	ट	धा	ऽ	ग	ति	ट	ति	ट	ता	ऽ
ताल चिन्ह	x														

अब प्रश्न उठता है कि नाटककार ने धमार ताल को ही क्यों चुना। वस्तुतः धमार एक गायन शैली भी है जिसमें धमार ताल ही प्रमुखता से बजाया जाता है। इसलिए इस ताल को धमार गायन शैली से जोड़ कर देखा जाता है।

धमार गायन शैली के विषय में कहा गया है – 'जब होरी के गीत को धमार ताल में गाते हैं, तो उसे 'धमार' कहते हैं। धमार गायन में प्राय: ब्रज की होली का वर्णन होता है। यानी कहा जा सकता है कि धमार – 'धमाल' मचाने वाला है। 'धमाल' शब्द ही बाद में 'धमार' बना। ताल की गति 'मध्य लय' में रखना ही उपयुक्त होगा क्योंकि – 'लया हास्यश्रृंगारयोर्मध्यमा:।' धमार ताल को रस की दृष्टि से 'भयानक' रस के अंतर्गत रखा गया है। ऐसे में इसकी उपयुक्तता और बढ़ जाती है क्योंकि मदिरा आकर्षित करने वाली तो है लेकिन खतरनाक व भयानक भी है – अत: यह ताल उस सूक्ष्म भाव को प्रकट करने में सहायक है जो नाटककार को अभिहित था।

लंबाई की दृष्टि से यह गीत छोटा है अत: इसका गायन भावोत्पत्ति के लिए करने के लिए पर्याप्त 'स्पेस' मौजूद है।

नाटक का दसवाँ गीत अंधकार द्वारा गाया गया है – ''जै जै कलियुग राजकी, जै महामोह महराज की।.....'' गीत के साथ में नृत्य का संयोजन उसे लोक शैली के अनुरूप बना देता है। यह गीत अंधकार की भयावहता को मंच पर साकार करने में सहायक होता है। कलयुग की जय करता यह डरावना गीत भारत दुर्दैव के अन्यतम सिपाही अंधकार द्वारा गाया जाता है।

नाटककार ने निर्देशित किया है – गाता हुआ स्खलित नृत्य करता है – यानी ऐसा नाच जो स्खलित हो – निम्नकोटि का हो, यथा बेताला या भयानक प्रतीत हो – ऐसा लिखकर कदाचित् भारतेन्दु अंधकार की भयावहता का प्रकट करना चाहते थे। राग के लिए पुन: राग काफी का वर्णन है। गीत के बोल और भाव यद्यपि राग की प्रकृति के अनुकूल नहीं है अत: नाटककार की अव्यवहारिकता झलकती है किंतु यदि संगीत निर्देशक चाहे तो राग काफी में भी इसे निबद्ध कर भी अन्य उपायों से अभीष्ट भावोत्पत्ति कर सकता है।

अगला गीत वैतालिक का गीत है –

''निहचै भारत को अब नास, जब महराज विमुख
उनसों तुम निज मति करी प्रकास।।.....''

इसमें वैतालिक भारत के नास की पूर्ण संभावना जता रहा है और उसका निराशावादी स्वर इस गीत में शुरू से अंत तक विद्यमान है। उसके अनुसार अब तो भारत का सर्वनाश निश्चित लगता है क्योंकि उससे तो स्वयं महरानी विक्टोरिया ने मुँह फेर लिया है। अब यहाँ न तो राम हैं न अर्जुन और ना ही शाक्य सिंह

(बुद्ध) इसलिए अब इनसे कोई उम्मीद नहीं। न तो अब शिवाजी हैं न महराज रणजीत सिंह जो इनकी जातीय चेतना को जगाएं। वही उदयपुर, जयपुर, रीवां आदि जो एक समय वीरता के लिए प्रसिद्ध थे अब परबस (अंग्रेजों के अधीन) होकर बेकाज हो गए हैं। अंग्रेजों का राज पाकर भी हिंदू जाति मूढ़ की मूढ़ ही बनी रही। दुनियां के बाकी देश जहाँ तरक्की कर रहे हैं भारत अंधकार में जा रहा है। कारण यह कि सब छोटे दिल के और चंचल व डरपोक मन के, अपने से काम रखने वाले लाग हैं। 'बुधि-बल-हीन' लोगों से कोई आशा व्यर्थ है। कितना भी इन पर टैक्स का बोझ लादैं - ये कोई आवाज नहीं उठाते माने सभी क्षमादानी है। अपना हित और अहित तो जानवर भी जानता है किन्तु ये उससे भी बदतर है जो अपना भला-बुरा नहीं समझते अतः इनसे कोई भी उम्मीद करना व्यर्थ है। इसलिए तो भारत दुर्दैव के सभी सिपाही डंके की चोट पर इन पर हमला कर रहे हैं।

यह गीत उम्मीदों के खत्म हो जाने के बाद के मोहभंग की सी स्थिति को बयाँ करता है - और किन्हीं अर्थों में अतीत और वर्तमान के माध्यम से जनमानस को कुरेदने की कोशिश करता है। संगीत पक्ष की दृष्टि से यह गीत गेय है और करुण रसोत्पत्ति की अपेक्षा रखता है। इसके लिए करुण रस प्रधान राग - मारवा, शिवरंजनी, अहीर-भैरव आदि का प्रयोग किया जा सकता है। गीत की लम्बाई को देखते हुए यद्यपि राग की बन्दिश सही नहीं और संभव भी नहीं। इसके लिए तो साधारण सी धुन में आरोह-अवरोहनुमा गाने की पद्धति ही उपयुक्त लगती है तथापि करुण-रसोत्पत्ति के लिए रागाश्रय सहायक होगा।

नाटक का बारहवाँ गीत भारत भाग्य द्वारा गाया गया है -

''जागो-जागो रे भाई।
सोअत निसि बैस गँवाई।
जागो जागो रे भाई।।.....''

यह गीत भारत भाग्य द्वारा गाया गया है जो वह अचेत भारत के समक्ष गाता है। भारत को वह भ्राता मानता है और उससे जागने की अपील करता है। उससे कहता है कि सोने के क्रम में ही उसने अपनी उम्र गँवा दी है और यही प्रवृति दिन-रात जारी है। स्थिति यहाँ तक आन पड़ी है कि उसे अपना हित-अहित भी सुझाई नहीं पड़ता क्योंकि वह बैरी (अंग्रेजों के 'भारत दुर्दैव') के वश में है। अब भी वक्त है जो कुछ जितना श्रेष्ठ बचा है उसे बचा ले अन्यथा बहुत देर हो जाएगी।

जागने की यह अपील जगाने का एक उपक्रम है जो 'भारत भाग्य' 'भारत' के लिए नहीं अपितु प्रकारान्तर से भारतेंदु भारतीय जनता के लिए करते हैं। यह गीत भारत-भाग्य का उद्‌बोधन गीत है जिसके लिए नाटककार ने 'राग चैती गौरी' में निबद्धता निर्देशित की है। राग 'चैती गौरी' वर्त्तमान हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की मुख्य धारा में अप्रचलित राग है जिसके विषय में प्रायः संगीतज्ञों से जानकारी माँगने पर मायुसी ही हाथ लगती है किंतु ब्रज की होली संगीत में चैती गौरी का विवरण मिल जाता है। यह एक मौसमी राग है जो चैत्र मास में गाया जाता है। इसे चैता गौरी भी कहा जाता है। इसमें दोनों मध्यम एवं कोमल ऋषभ एवं धैवत लगाने का रिवाज है। यानी -

सा रे॒ ग म मे ध॒ नि।

इसका आरोह-अवरोह इस प्रकार से माना गया है

आरोह - सा रे॒ म प ऽ मे ध॒ नि सां

अवरोह - सां नि ध॒ प ध॒ म ऽ प, मे ध॒ मे ग रे॒ ग रे॒ सा

इस राग को दो अंगों में गाने की परंपरा रही है। एक 'श्री' अंग दूसरा 'पूर्वी' अंग। पूर्वी अंग की गायकी में तीव्र मध्यम प्रबल हो जाता है। मौसमी राग प्रायः द्रवित करने की बेजोड़ क्षमता वाले होते हैं - चाहे वे वसंत में गाए जाने वाला राग 'वसंत' हो या सावन में गाया जाने वाला राग मेघ, मल्हार देश अथवा बहार में गाये जाने वाला 'बहार' याकि चैत में गाए जाने वाला चैता गौरी - सबके साथ ये विशेषता विद्यमान है। प्रस्तुत गीत करुण रस से आप्लावित है जिसके लिए ऐसे ही किसी राग की दरकार थी जिसे नाटककार ने स्वयं पूरा किया। गीत बड़ा नहीं है अतः राग की खूबसूरती में बांधकर इस गीत को गाने का पूरा अवकाश है। भारत भाग्य की करुणा को उसकी सम्पूर्णता में दिखाने का माद्दा भी इस गीत में है जिसे उचित संगीत द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

नाटक का तेरहवाँ और अंतिम गीत 'भारत भाग्य' की अंतिम कोशिश है 'भारत' को जगाने की। इसके बाद वह आत्म हत्या कर लेता है। इस गीत को इतना लम्बा कर दिया गया है कि यह एक गीत नहीं रह जाता। इतना ही नहीं इसमें अलग-अलग छंदों का भी प्रयोग किया गया है। कुल तीन छंदों के प्रयोग से कम से कम इस गीत के तीन टुकड़े तो हो ही सकते हैं।

इस गीत में 'भारत भाग्य' 'भारत' को स्वर्णिम अतीत की ओर ले जाता है और कहता है कि एक समय भारत के ही प्रताप से सम्पूर्ण विश्व रक्षित व शिक्षित था। उसी की उज्ज्वल गाथा का गान समूचा विश्व करता था। वेद की जननी भारत से ही फिनिशिया, मिश्र, सीरिया आदि देशों ने शिक्षा पाई। साहस बल की भी कोई सानी नहीं थी किंतु विधि का कुछ ऐसा विधान बना कि अब दुनियाँ सुखी है व भारत दुखी। इससे अच्छा तो रोम है जिसपर आक्रमण हुआ व उसकी प्राचीन सभ्यता सब नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई। वहाँ प्राचीन संस्कृति का कोई अवशेष नहीं इसलिए दुख भी नहीं होता किंतु यहाँ तो अवशेष मौजूद हैं इसलिए दुख भी अधिक होता है। तमाम आक्रमणों के बाद आज काशी, प्रयाग, अयोध्या सब दीन रूप में नजर आ रहे हैं। इनके घृणास्पद रूप को देख चांडाल तक मुँह फेर लेते हैं।

आगे 'भारत भाग्य' के माध्यम से भारतेन्दु हर उस चीज को मिटा देने या मिट जाने की इच्छा जाहिर करते हैं जो उन्हें इतिहास की स्वर्णिम स्थितियाँ स्मरण कराती है। यथा - पंजाब, पानीपत, चित्तौड़, आगरा, वाराणसी, प्रयाग, कुश, कासी, मथुरा, अंग, बंगाल इसके अलावा गंगा, यमुना सरीखी अनेक नदियाँ व विंध्य हिमालय आदि। कदाचित् इसी से भारत का कलंक मिटे।

तदोपरांत छंद परिवर्तन में भारत भाग्य पुनः भारत की पूर्व वीरता का बखान करता है। इसमें उसकी राजनीतिक शक्ति की भी चर्चा की गई है किंतु आज वही भारत चेरी हो गया है। चेरी हो जाना अंग्रेजों का गुलाम हो जाने की ओर इशारा है - 'सोई यह प्रिय मेरे ह्वै रहे आज चेरे।'

पुनः चौपाई छंद पर लौट कर भारत भाग्य कहता है ये कृष्ण वर्णी भारतीय ही एक समय वेदगान करते थे। इनके मधुर नृत्य गीत से सारा समाँ बंध जाता था। नारद, तानसेन जैसे प्रसिद्ध संगीतज्ञ भी यही हुए। यहीं ऐसे वीर हुए जिन के क्रोध पर धरती-आकाश-पहाड़ सहित चहुदिशाएं काँपती थीं। युद्ध भूमि में जिसे प्राणों का कोई मोह नहीं था वही भारत आज निष्क्रिय पड़ा है।

पुनः छंदपरिवर्तन द्वारा दोहा छंद में भारत की प्राकृतिक शक्ति का वर्णन हुआ है। मुख्य हिमालय व पवित्र गंगा यहीं है। आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण यहीं लिखा। अनेकानेक प्रख्यात् ऋषियों ने यहीं जन्म लिया। गौतम बुद्ध भी हुए, मनु भी हुए और भृगु जैसे राजा भी। उस समय भारत की ओर घृणा की दृष्टि से कोई नहीं देखता था।

अंतत: कवि कहता है कि व्यास जैसे कवि जिनके काव्य के कारण संसार में आज भी भारत की शीष ऊंचा है और जिसके राज्य, बल तथा धर्म की प्राप्ति के लिए संसार के सभी नरेश लालायित रहते थे उसी व्यास व राम के वंशज आज अचेत हैं। किंतु रक्त वही है, विश्वास, शक्ति, संकल्प, विचार, संस्कार, आदर्श भी वही है। केवल जागने की जरूरत है। आज भारत की अवस्था देखी नहीं जा रही और कहाँ जाएं, क्या करें, कुछ उपाय नहीं सूझ रहा है। गीत की लंबाई इसे गीत के रूप में भूमिकाहीन बना देती है। इस पूरे गीत में वही चीजें दूसरे रूप में कही गई है जो इससे पूर्व किसी न किसी रूप में कही जा चुकी हैं। अतीत की स्वर्णिम चर्चा पहले गीत में ही की जा चुकी है - यहाँ पर उसका विस्तार प्राय: अनावश्यक है। जहाँ तक भारत-भाग्य के दुख का प्रश्न था या जगाने के प्रयास की बात थी तो वह पूर्व के गीत से भी पूरी हो सकती थी - इसलिए यह गीत खटकता है। 'डा. सत्येन्द्र कुमार तनेजा' ठीक ही लिखते हैं- 'छठे अंक में भारत-भाग्य का गद्य-पद्य मिश्रित एकालाप नाटक को और कमजोर बनाता है।'

अंतिम गीत की कमजोर उपस्थिति के बावजूद समूचे नाटक में गीत-संगीत योजना नाटक के रीढ़ का काम करती है और नाटक के मूल भाव को व्यक्त करने में मदद करती है। अतीत की तुलना में वर्तमान भारत की दुर्दशा को देखकर उठने वाले दंश को प्रकट करने का महती कार्य इस नाटक के गीतों द्वारा ही संभव हुआ है - और उस दंश को प्रेक्षकों के भीतर प्रविष्ट कर उन्हें रचनात्मक तनाव के जरिए हौले से तिलमिला देने का हुनर इसके संगीत में ही हो सकता है।

नाटक के पहले अंक से छठे अंक तक इसका गीत-संगीत 'मंत्रों में ओम्' की तरह छाया हुआ है। शुरुआती योगी का गीत, बीच में वैतालिक का गीत और अंत में भारत-भाग्य का गीत जहाँ करुण रस से आप्लावित कर पाठक-श्रोता-प्रेक्षक को द्रवित करता है वहीं भारत-दुर्दैव और सत्यानाश का गीत पाठकों/प्रक्षकों में क्रोध भी उत्पन्न करता है। मदिरा का मनमोहक गीत जहाँ मीठे जहर का एहसास कराता है वहीं आलस्य की ग़ज़ल तिलमिला देने की ताकत रखती है। इसलिए डा. सिद्धनाथ कुमार ठीक ही लिखते हैं- 'भारत दुर्दशा को देखें, तो यह एक संगीत प्रधान नाटक है। भारतेन्दु ने भारत दुर्दशा में अपने समय की लोकप्रिय संगीत शैलियों और राग-रागनियों का व्यवहार किया है। इन सबके फलस्वरूप नाटक के प्रदर्शन में लोकप्रियता की सम्भावनाएँ निहित हैं।' और यह लोकप्रियता केवल मनोरंजन के स्तर तक नहीं अपितु साहित्य आह्लाद के जरिए मानसिक या वैचारिक तनाव को उत्तेजित कर देने के स्तर पर भी है।

संदर्भ ग्रंथ

हिन्दी नाटक, डा. बच्चन सिंह
भारत दुर्दशा : संवेदना और शिल्प, सिद्धनाथ कुमार
नाटक-निबंध, भारतेन्दु हरिश्चंद्र
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्पूर्ण नाटक, सं. गोविन्द चातक
भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान, डॉ. सुभद्रा चौधरी
संगीत बोध, डॉ. यादवेन्द्र कुमार शर्मा
रंगानुभव के बहुरंग, प्रो. रमेश गौतम
साहित्यालोचन, डा. कृष्णदेव झारी
हिन्दी साहित्य का छंदोविवेचन, डॉ. गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'
ग़ज़ल दुष्यंत के बाद, सं. दीक्षित दनकौरी
मेरे सपनों का भारत ,महात्मा गांधी
हरिजन, 3-6-1939
संगीत विशारद, वसंत, सं. डॉ. लक्ष्मी नारायण गर्ग
हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास, रामस्वरूप चतुर्वेदी
मात्रिक छंदों का विकास, डा. शिवनंदन प्रसाद
नाटककार भारतेंदु की रंग परिकल्पना, डॉ. सत्येन्द्र तनेजा
Raga Nidhi, Vol. I, By B. Subba Rao

डॉ. गुंजन कुमार झा
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्र: 9810909866
ई-मेल: drgunjanjha@gmail.com

परम्परा का मूल्यांकन और विभिन्न मत

'परम्परा' शब्द अपने आप में व्यापक अर्थवत्ता छुपाये हुए है। लोक जन एवं शास्त्रज्ञ सभी इस शब्द से परिचित हैं, पर इसका उपयोग विभिन्न संदर्भों में किया जाता है। रूढ़ि, रीति–रिवाज, सभ्यता–संस्कृति, विरासत, इतिहास प्रवृत्ति आदि ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग परम्परा के रूप में किया जाता है। ये सभी समकालीन विमर्श के बीज–शब्द हैं। इन सबका प्रयोग वैकल्पिक अर्थों में भी होता रहा है। जिसके कारण इसका प्रयोग कई जगह पर भ्रम भी उत्पन्न करता है इसलिए हमें 'परम्परा' शब्द को परखने की जरूरत है।

'हिन्दी शब्द सागर' के अनुसार परंपरा का अर्थ है एक के पीछे दूसरा, ऐसी अटूट श्रृंखला या क्रम (विशेषतः काल या घटनाओं आदि का) अनुक्रम, पूर्व पर क्रम और बराबर चली आती हुई रीति या प्रथा। इसी तरह परम्परा शब्द के अंग्रेजी समानार्थक ''ट्रैडीशन'' का अर्थ यह माना जाता है कि एक पीढी से दूसरी पीढी को विश्वासों और रीति–रिवाजों का निरंतर दिया जाना तथा अतीत द्वारा दिए गए मान्यताएँ और रीति–रिवाज। रेमंड विलियम्स भी अपनी पुस्तक 'की वर्डस' में परंपरा के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द ट्रैडीशन का यही अर्थ बताते है। लेकिन सवाल यह पैदा होता है कि अगर पीढ्यिों द्वारा दी गयी अनुभव–राशि का नाम परंपरा है, तो कितनी पीछे की पीढ्यिों द्वारा दी गयी अनुभव–राशि का नाम परंपरा है, दूसरे वर्तमान से अतीत को अलग करने वाली यह सीमा रेखा कहाँ खींची जाये? इस सवाल का उत्तर देते हुए रेंमड विलियम्स लिखते हैं कि ''किसी भी चीज को परंपरा बनाने के लिए मात्र दो पीढ़ियों का वक्त लगता है।''[1]

मतलब यह कि हमारे यहाँ की प्रचलित परिपाटियाँ, अनुभव और विश्वास दो पीढ़ी आगे चलकर एक नयी परंपरा के रूप में सामने होगा। लेकिन वह अपने मूलरूप में नहीं बल्कि कुछ जुड़कर और कुछ घटकर अर्थात् परिष्कृत होकर। जैसे अतीत से आज की परंपरा भिन्न है। इसमें वही अनुभव वही विश्वास नहीं है जो पहले थे, ठीक वैसे ही भविष्य में सभी अनुभवों और विश्वासों का समुच्चय नहीं होगा। परंपरा में इस तरह का बदलाव जरूरी है क्योंकि यह परंपरा के विकास में सहायक सिद्ध होता है। परंपरा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो अपने आप ही मिल जाये बल्कि इसे परिश्रम द्वारा अर्जित किया जाता है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है। मनुष्य की सभ्यता संस्कृति और उसका ज्ञान–विज्ञान निरंतर विकास का ही परिणाम है। परंपरा अतीत से वर्तमान और

वर्तमान से भविष्य तक निरंतर बनी रहती है। लेकिन उसका रूप बदलता रहता है क्योंकि भूत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य तक की यात्रा के दौरान इसमें कुछ घटता–बढ़ता है।

डॉ. नामवर सिंह ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि ''परंपरा यदि एक दूसरे को और दूसरे का तीसरे को दिया जाने वाला पीढ़ी दर पीढ़ी क्रम है तो हस्तांतरण के इस क्रम में जरूरी नहीं कि अतीत की सम्पूर्ण निधि अविकल रूप में सारी की सारी सुलभ होती चली जाए। प्रायः हर मंजिल पर कुछ छूटता है, कुछ नया जुड़ता है और कुछ बदलता भी है।''[2] अर्थात् पिछली पीढ़ी की छाप आने वाली पीढ़ी में मौजूद होती है। उनकी बुनियादी समानता और कुछ विशिष्टता अंतर्निहित होती है। अब सवाल यह उठता है कि परंपरा की शुरूआत कहाँ से मानें? क्योंकि हर पीढ़ी अपनी पिछली पीढ़ी से जुड़ी है पर उनमें बदलाव भी है। दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या परम्परा निरंतर विकास की ओर ही जाती है?

इस विकास में कोई अवरोध अर्थात् मुश्किल पैदा नहीं होती? विकास का मतलब परिष्कार से लिया जाये या इसमें पतन की भी संभावना मौजूद होती है? पहली समस्या को श्यामाचरण दुबे ने उठाया है। उनका सवाल है कि ''परंपरा का मूल रूप हम किसे माने? प्रस्तर युग की संस्कृति को या उससे कुछ समाधानपरक उत्तर खोज कर सकना कठिन है।''[3] जाहिर है इस समस्या के सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है लेकिन जहाँ तक विकास और पतन की बात है तो बिना विरोध के विकास संभव नहीं है और विरोधी विचार आते ही लोग उसे पतन मानने लगते हैं ऐसे विचार को परंपरावादी कहना उचित होगा जो किसी भी बदलाव को जल्दी स्वीकार नहीं करता।

डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं कि ''विरोध और प्रतिक्रिया परंपरा के स्वाभाविक विकास के ही सूचक हैं क्योंकि विकास का अर्थ सदैव परिपाटी पालन ही नहीं होता। कोई भी विकास विरोध के बिना घटित नहीं होता।''[4]

परंपरा जब एक दूसरे और दूसरे से तीसरे के क्रम में आगे बढ़ती है तो आम आदमी अपने आचरण में उन्हें स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार 'परंपरा का पालन' अतीत से वर्तमान तक चला आ रहा है और इसके पालन क्रम को भंग किए बिना भी होता रहा है। इस तरह से हमें 'परंपरा' में एक तरह का विरोधाभास नजर आता है। क्योंकि इसमें एक ओर बदलाव तो होता है पर दूसरी ओर वर्तमान में निष्ठा होती है, जो स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार परंपरा के प्रसंग में तीन बातें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है–

(1) परम्परा को आदर–सम्मान के साथ पूर्ण स्वीकार करने का आग्रह।

(2) परंपरा को रूढ़ि मानकर पूर्णतः नकार।

(3) उसे समय के अनुकूल परिष्कृत कर सार्थक चयन का आग्रह।

रूढ़ि और परंपरा को समानार्थी मानकर कई बार परम्परा को भी त्याज्य समझ लिया जाता है। अज्ञेय ने तार सप्तक के संपादकीय में कहा है कि ''अभी तक सन् 1963 में भी, नया आलोचक ही नहीं, नया कवि तक 'रूढ़ि' और 'परंपरा' को पर्यावाची मान लेते है जबकि एक निरा जाड़य है दूसरा ऐतिहासिक संबंध ा है।''[5]

भारतीय परम्परा के संदर्भ में अगर हम गौर करें तो देखेंगे कि यहाँ परम्परा को संस्कृति का अहम हिस्सा मान इसे रूढ़ि बना दिया जाता है। लेकिन रूढ़ि को रूढ़ि न कहकर परम्परा या संस्कृति ही मानते हैं। भारतीय समाज की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि ऐसी परम्परा को नैतिकता बोध के साथ जोड़ दिया जाता है। परंपरा को नैतिकता बोध के साथ जोड़ते ही उसे वेदों से जोड़कर तार्किक रूप से सही ठहराने की कोशिश भी की जाती है।

दूसरी बात यह कि परंपरा को प्राचीनतम् सिद्ध करने की यह एक प्रवृत्ति है क्योंकि जब भारत में छः हजार वर्ष पुरानी 'परंपरा' की बात गोविन्दचन्द्र पाण्डेय करते हैं तो उनका मतलब 'वैदिक संस्कृति' से ही है। केवल 'वेद' अथवा किसी भी धार्मिक ग्रंथों में परंपरा की खोज करना सरल रास्ता अपनाना है और यह एकांगी निरूपण भी है।

परंपरा के निर्माण में लोकजीवन की भूमिका के सहारे हम अपनी परंपरा को श्रेष्ठ साबित करने की कोशिश करते हैं और हम अपना संबंध किसी महान परम्परा से जोड़ना चाहते हैं। लेकिन हम कौन सी महान परंपरा से जुड़ना चाहते हैं। इस संबंध में श्यामचरण दुबे द्वारा उठाया गया प्रश्न बिल्कुल सही है कि ''क्या भारत में एक महान 'परंपरा' थी? जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाईयत की परंपराएँ इस श्रेणी में नहीं आतीं? स्वतंत्र अस्मिता वाली परंपराएँ क्या नगण्य हैं? क्या परम्परा का परिमार्जन नहीं हुआ? क्या उसका रूप तो वही रहा पर उसके निहित अर्थ नहीं बदले?''[6]

भारतीय परंपरा में धार्मिक परंपराओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसके साथ ही क्षेत्रीय और जातीय परंपरा की भी भूमिका है, जब यहाँ मुसलमान आये तो अपने साथ अपना धर्म और अपनी विशिष्ट संस्कृति भी लाये। यही बात

ईसाईयत के साथ भी है। धर्म का प्रश्न ही विवादास्पद है लेकिन यहाँ जिस भी धर्म को अपनाया गया उसका भारतीयकरण हुआ है। इन परम्पराओं को 'राबर्ट रेडफील्ड' और 'मिल्टन सिंगर' ने 'महान' और 'लघु' परंपरा कहा है। श्यामाचरण दुबे के अनुसार यह 'शास्त्रीय' और 'लौकिक' परम्परायें हैं।

कहने का मतलब यह कि 'लोकधर्म' एक गतिशील प्रक्रिया है जो साहित्य के संदर्भ में और दैनंदिन व्यावहार में भी लोगों के जीवन को प्रभावित करती है। भारतीय परंपरा में 'शास्त्र' और 'लोक' के बीच द्वन्द्व रहा है। लेकिन उनका संबंध निम्न और उच्च का नहीं है बल्कि ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

''परंपरा की पहचान की छटपाहट नवजागरण–युगीन चिन्तन की देन है। 19वीं सदी के नवजागरण के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक अनेक आयाम थे। भारतीय समाज औपनिवेशिक शासन की सांस्कृतिक विरासत की खोज कर रहा था। बहुस्तरीय साम्राज्यवादी जकड़बन्दी को भेदने के लिए सर्वग्राही भारतीय परम्परा एवं संस्कृति का रेखांकन आवश्यक था, जिससे प्रत्येक जन अपना लगाव महसूस कर सके। इस निमित्त तत्कालीन बौद्धिक वर्ग के इस प्रयास का विरोधाभास तब समझा गया था और आज भी ज्योतिबा फुले, सर सैय्यद, अम्बेडकर आदि ऐसे ही लोग थे, जिन्होंने इस समग्रतावादी परंपरा की समझ की सामाजिक सीमाओं का रेखांकन किया। परन्तु समूची बीसवीं सदी के भारतीय आत्मबोध के निर्माण में नव–जागरण से निष्पन्न इस सांस्कृतिक पुनरूत्थानवाद का महत्वपूर्ण योगदान है। मार्क्सवादी चिन्तन परम्परा के भी कुछ प्रमुख स्तम्भ इससे बच नहीं सके हैं। यह सांस्कृतिक पुनरूत्थानवाद जहाँ 19वीं सदी की ऐतिहासिक आवश्यकता था, वहीं 20वीं सदी के मध्यवर्गीय हीनताग्रन्थि के आत्मतुष्टीकरण का साधन। परंपरा की इसी सांस्कृतिक समझ को सर्वानुमति मिलने के ये दो प्रमुख कारक हैं।''[8]

अतीत के अन्तर्विरोधों का आत्मसातीकरण ही परंपरा की समझ का प्रमुख लक्षण है और साहित्य की परम्परा का भी एक लक्षण है। अगर हम परम्परा के मूल्यांकन की बात करें तो सारी कठिनाइयों के बावजूद परम्परा के मूल्यांकन का महत्व असंदिग्ध है। ऐसा मूल्यांकन परंपरा की पूर्ण पहचान कराने में सक्षम है या नहीं, यह ठीक–ठीक तो नहीं बताया जा सकता क्योंकि सैद्धान्तिक स्तर पर परम्परा की पहचान एवं उसके बोध का प्रश्न जितना सरल दिखता है, व्यावहारिक स्तर पर वह उतना ही कठिन बन जाता है।

मुक्तिबोध की समस्या थी–'क्या करूं, कहाँ जाऊँ दिल्ली या उज्जैन।' यह लगभग इसी प्रकार की समस्या है। एक तरफ है कालिदास की नगरी उज्जैन, तो दूसरी तरफ पं. नेहरू की राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली। आधुनिकता का निकष सामने रहते हुए भी मुक्तिबोध के लिए परम्परा का चयन आत्मसंघर्षकारी है और यह उनके अस्मिता बोध से भी जुड़ा है।

निर्मल वर्मा का यह कहना है, ''अधिकांश समय यह बात मुझे सालती रहती है कि जो मैं सीखता हूँ और जैसी जिन्दगी जीता हूँ, उनके बीच कितनी गहरी खाई है। अगर मैं इन दो खण्डित टुकड़ों को अपने में नहीं जोड़ सकता तो कम से कम यह तो कर सकता हूँ कि मेरे सेल्फ का वह भाग जो लिखता है, उसके लिए दुख उठा सके जो जीता है।''[9] कथनी करनी के इस द्वंद्व के साथ अपनी परम्परा के पदचिन्हों की पहचान करना और इस प्रकार के मोह–पाश से बचते हुए एक सफल कार्य करना बहुत कठिन है। लेकिन परम्परा के मूल्याकंन से इस प्रकार की समस्याओं से निपटा जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. गीता शर्मा, डॉ. रामविलास शर्मा और परम्परा का मूल्यांकन, पृ. 13–14
2. डॉ. नामवर सिंह, वाद–विवाद–संवाद, पृ 59
3. श्यामाचरण दुबे, परंपरा, इतिहासबोध और संस्कृति, पृ 29
4. नामवर सिंह, छायावाद, पृ. 150
5. अज्ञेय, तार सप्तक, पृ. 245
6. श्यामाचरण दुबे, परंपरा,इतिहासबोध और संस्कृति, पृ 28
7. प्रो. पुरूषोत्तम अग्रवाल, तीसरा रूख, पृ. 121
8. निर्मल वर्मा, धुन्ध से उठती धुन्ध, पृ. 76

डॉ. सुधा निकेतन रंजनी
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
सम्पर्क सूत्रः 9136317704
ई–मेल– snranjani@gmail-com

स्वामित्व एवं अन्य विवरण

एकेडेमॉस 2016

प्रपत्र - XVI

प्रकाशन स्थल	:	कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
प्रकाशन समयावधि	:	वार्षिक
मुद्रक का नाम	:	निर्मल सिंह ग्राफिक डिज़ायनर
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	निर्मल सिंह ग्राफिक डिज़ायनर ऑफिस नं. 1, नीति बाग नई दिल्ली - 110049
प्रकाशक का नाम	:	डॉ. रीता मल्होत्रा (कार्यवाहक प्राचार्या)
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
सम्पादक का नाम	:	डॉ. सुषमा सहरावत
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
स्वामित्व	:	प्राचार्या कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली - 110049

मैं, डॉ. रीता मल्होत्रा, घोषित करती हूँ कि ऊपर दिए गए सभी विवरण मेरी जानकारी के अनुसार सही हैं।

मार्च, 2016

डॉ. रीता मल्होत्रा

(प्रकाशक के हस्ताक्षर)